मनोवैज्ञानिक रश्मियां

लेख-सूची

लेखक

लालजीराम शुक्ल

प्रकाशक—काशी मनोविज्ञान शाला

पलायनवाद की मनोवृत्ति और उसका परिणाम

पलायन का अर्थ है भागना। कठिनाइयों से विमुख होना ही पलायन है। किसी अभिवांछित वस्तु की प्राप्ति में सन्देह अथवा अधिक कठिनाइयों की सम्भावना होने पर अपनी असामर्थ्य की कटु अनुभूति से बचने के लिए हम उस वस्तु में ही दोष देखने लगते हैं। अतएव अपनी पहुँच के परे के अंगुर हमारे लिए खट्टे होते हैं। जीवन में अभिवांछित पदार्थ को प्राप्त करना सहज नहीं है। निरंतर प्रयत्न के द्वारा हमें सभी वस्तुओं का उचित मूल्य चुकाना पड़ता हैं। उचित पुरुषार्थ के द्वारा सभी कालों में सभी के द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु पलायनवादी लोग किसी भी वस्तु के लिए उचित पुरुषार्थ नहीं दिखाना चाहते। वे थोड़े परिश्रम से ही बहुत कुछ अथवा सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं। परिणामतः उन्हें विफलता मिलती है, अथवा वांछित वस्तु की प्राप्ति में उन्हें सन्देह हो जाता है। ऐसी अवस्था में आत्म-हीनता की स्वीकृति न कर वे वांछित फलों में ही दोष देखने और ऐसा सोचने लगते हैं, कि वे वस्तुएँ प्राप्त करने योग्य हैं ही नहीं, उनके लिए अधिक प्रयास करना हमारे लिए अशोभनीय और अनुचित है। जीवन में इस प्रकार की थोड़ी-बहुत अनुभूति प्रायः सभी को होती है। इस मानसिक क्रिया को मनोविज्ञान में अध्यास (rationalisation) कहते हैं। अध्यास में किसी कार्य का वास्तविक कारण न बताकर (क्योंकि वह दुःखद होता है) कोई ऐसा दूसरा कारण बनाया जाता है, जो ऊपरी दृष्टि से उचित ही प्रतीत होता है। परीक्षा में फेल होने वाले या कम नम्बर पाने वाले छात्र प्रायः किसी परीक्षक विशेष की नाराजगी, परिस्थितियों की कुटिलता या पुस्तकाभाव की दलील ही पेश करते हैं। इस प्रकार वे आत्म-हीनता जनित मानसिक संघर्ष से मुक्त होने और अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने में समर्थ होते हैं।

अन्य मानसिक क्रियाओं की भाँति पलायन भी दो प्रकार का होता है, एक चेतन और दूसरा अचेतन, अर्थात् एक प्रकार के पलायन में मनुष्य को अपनी अयोग्यता का ज्ञान रहता है, परन्तु दूसरे में उसे अपनी असामर्थ्य का पता बिल्कुल ही नहीं रहता। जब मनुष्य कायरता के कारण जान-बूझकर कठिन परिस्थितियों से भागता और अपने पलायन का कारण यह समझाया करता है कि उक्त वस्तु को प्राप्त करना उसके लिए अच्छा नहीं है, तो उसके पलायन की प्रवृत्ति सरलता से समझी जाती है। ऐसे व्यक्तियों को अपनी अयोग्यता का ज्ञान रहता है, परन्तु अपनी असमर्थता को दूसरों से छिपाने के लिए वे उस परि-

स्थिति अथवा वस्तु को ही हेय बताने का प्रयत्न करते हैं। जान-बूझकर भागने-वालों में एक और प्रकार के लोग होते हैं। ये कठिन अथवा भयंकर परिस्थितियों से इसलिए नहीं भागते कि वे उनसे घबड़ाते हैं, वरन् ऐसी परिस्थितियों को कभी-कभी वे इसलिए टाल देते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी असफलता का पूर्ण ज्ञान रहता है। ऐसे लोगों का पलायन कायरता का नहीं, बल्कि उनकी सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है। जहाँ असफलता निश्चित है, वहाँ सिर्फ अपनी वीरता दिखाने के लिए डटे रहना मूर्खता है। भगवान कृष्ण और शिवाजी कई बार युद्ध-क्षेत्र से भाग जाया करते थे, पर इसका कारण यह नहीं था कि वे कायर थे। ऐसे लोगों में आत्म-विश्वास की कमी नहीं रहती और वे अपने पलायन के वास्तविक कारण को छिपाते भी नहीं। कृष्ण और शिवाजी जैसे पलायनवादियों में उद्देश्य की प्रधानता होती है, वे कठिन परिस्थितियों से भय-वश नहीं, अपितु अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही भागते हैं। ऐसे व्यक्ति बड़े ही चरित्रवान और दृढ़व्रती होते हैं। इसके विपरीत वास्तविक कायरों का उद्देश्य केवल कठिन परिस्थितियों से भागना ही होता है। वे आलसी होते हैं और सरलता तथा भोग-विलास-पूर्ण आराम का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। ऐसे लोगों में किसी प्रकार के आदर्शवाद अथवा उच्च चरित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं होता। स्वार्थमयी वृत्तियों के पोषक होने के कारण ऐसे व्यक्ति नाना प्रकार के मानसिक क्लेशों की अनुभूति करते हुए दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

दूसरे प्रकार का पलायनवाद अचेतन मानसिक क्रिया है। इस प्रकार के लोगों को स्वयं ही यह ज्ञात नहीं रहता कि वे पलायनवादी हैं, अथवा जीवन में असफल होने के कारण ही उनकी यह स्थिति हो गई है। ऐसे व्यक्ति बड़े ही उच्च विचारों के आदर्शवादी होते है और संसार में बहुत बड़ा कार्य करना चाहते हैं, परन्तु वास्तव में उनके आदर्शवाद के मूल में उनके अचेतन मन में उपस्थित हीनता की ग्रन्थि ही होती है। यह ग्रन्थि जीवन में किसी असफलता के कारण उपस्थित हो जाती है और व्यक्ति को असफलता - जनित मानसिक संघर्ष से बचाने के लिए उसे किसी विशेष दिशा की ओर मोड़ उसके मस्तिष्क में विघटन उपस्थित कर देती है। ऐसे व्यक्ति ऊपरी मन से बड़े भारी संत-महात्मा बन जाते हैं और समाज में नैतिकता और बड़े-बड़े आदर्शों का प्रचार बड़े ही जोश से करते हैं। किसी प्रकार की नैतिक त्रुटि इन्हें असह्य हो जाती है। वास्तव में ऐसे व्यक्तियों के अचेतन मन में प्रबल अनैतिक इच्छाएँ दमित रूप से रहती हैं, जिनका ज्ञान उन्हें नहीं रहता। वे चेतन मन से उन्हीं वस्तुओं का त्याग करते हैं, जिनकी प्राप्ति की इच्छा अज्ञात रूप से उनके मन के भीतरी भाग

में दमित रहती है। समाज के अधिकांश साधु-संन्यासी इसी कोटि में आते हैं। ऐसे व्यक्तियों का आदर्शवाद और निर्लिप्तता अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाने का एक आवरण मात्र होता है। इन्हें आत्मज्ञान से वंचित रहना पड़ता है।

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे जान-बूझकर ऐसा करते हैं। यह तो एक प्रकार की अचेतन मानसिक क्रिया है।

काम-वासना के दमित रहने पर ऐसे व्यक्ति अपने आपको ब्रह्मचारी प्रसिद्ध करते हैं। वे स्त्रियों अथवा सुन्दरी लड़कियों के बीच में रहने से डरते हैं तथा उनकी ओर देख भी नहीं सकते। ऐसी परिस्थितियों में उनका हृदय धड़कने लगता है। ऐसे ही व्यक्ति इस प्रकार का उपदेश दिया करते हैं कि स्त्रियों की ओर मत देखो, सभी स्त्रियों को माता समझो, किसी भी युवती से एकान्त में न मिलो, जहाँ काम-विषयक चर्चा हो रही हो वहाँ मत बैठो आदि-आदि। समाज में इस प्रकार के आचरण करनेवालों के चरित्र की बड़ी डुग्गी पिटी जाती है और अधिकतर ऐसे लोग भी अपने आपको जितेन्द्रिय समझने लगते हैं।

वास्तविक नैतिक गुणों का विकास परिस्थितियों से भागने में नहीं, बल्कि उनका सामना करनेमें होता है। जान-बूझकर वासना से संघर्ष करने में ही इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है। उनसे भागनेवाला उन पर विजय कैसे पा सकता है? विकारोत्पादक वातावरण में रहते हुए भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, वही सच्चा योगी और चरित्रवान है।

—प्रणवीर सिंह चौधरी

मानसोपचार की नई पद्धति

संसार में मानसोपचार की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ रोग को बिना समझे ही चिकित्सा करने की चेष्टा करते हैं और कुछ रोग का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके चिकित्सा करते हैं। मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन डा० फ्रायड की है। इनके कथनानुसार रोग के उपचार के लिए उसके प्रारम्भ के सम्पूर्ण इतिहास को जानना नितान्त आवश्यक है। बहुत से मानसिक रोग रोगी की चेतना पर उन भावात्मक घटनाओं के आते ही समाप्त हो जाते हैं, जो रोग के कारण हैं। यहाँ मनोवैज्ञानिक की कुशलता इस भावात्मक घटना को चेतना के स्तर में लाने में है। इसके लिए पहिले तो रोगी को अपनी वासनाओं के प्रति दृष्टिकोण बदलना पड़ता है और दूसरे उसके शरीर और मनको आराम की अवस्था में रखकर अर्थात् उसे एक बिस्तर पर लेटाकर उसके मन में जो कुछ आए, उसे चिकित्सक से तुरन्त कहने के लिए कहा जाता है।

रोग के प्रति रोगी के दृष्टिकोण को बदलने में काशी मनोविज्ञानशाला ने भगवान् बुद्ध के बताए हुए मैत्री-भाव के अभ्यास को बड़ा ही उपयोगी पाया। इस अभ्यास में चिकित्सक रोगी के प्रति सद्भाव दिखाता है और फिर रोगी से वातावरण, दूसरे व्यक्तियों तथा अपनी वासनाओं के प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास कराता है। दूसरे के प्रति की गई मैत्री-भावना का अभ्यास आत्म-मैत्री के स्थापन में सहायक होता है। दूसरा अभ्यास, जो भगवान बुद्ध-द्वारा बताया गया है, वह अपने चित्त को श्वांस के आवागमन पर केन्द्रित करना है। भगवान बुद्ध ने इसे आनापानसति का अभ्यास कहा है। इससे मनुष्य के स्नायुओं का खिचाव कम हो जाता है और उसकी दबी हुई मानसिक ग्रन्थियाँ सहज ही में चेतना के स्तर पर आ जाती हैं। इस विषय में हमारे कुछ मौलिक अनुभव उल्लेखनीय हैं—

आज से कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में भारी असन्तोष रहा करता था। मैं तर्कवादी व्यक्ति हूँ। अतएव किसी प्रकार के मत-मतान्तर और वाद मुझे सन्तोष नहीं देते थे। मैंने अपने कालेज के शिक्षक प्रो० रोनाल्ड निक्सन के मुँह से यह बात सुनी कि कैंब्रिज विश्वविद्यालय के सिनेट हाल में रक्खी हुई बुद्ध भगवान् की मूर्ति ने उनके मन में यह प्रेरणा उत्पन्न की कि वे भारतवर्ष जाएँ और वहाँ बौद्ध-धर्म का अध्ययन करके उस भाव को प्राप्त करें; जिस भाव को सिनेट हाल में रक्खी हुई मूर्ति अपनी शान्त मुद्रा द्वारा व्यक्त करती है। प्रो० निक्सन पहली जर्मन लड़ाई में वायुयान के अफसर थे और लड़ाई में

उन्होंने अनेक प्रकार के विध्वंसकारी कार्य किये थे। इससे उत्पन्न हुई अन्तर्ज्वाला को जब पश्चिम का कोई धर्म शान्त न कर सका, तब उन्होंने भगवान् बुद्ध की शान्त-मुद्रा की शरण ली। प्रो० निक्सन से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं उन भगवान् की शिक्षा का आत्मसाक्षात्कार करूँ; जिनकी मूर्ति को देखकर मेरे शिक्षक के जीवन में इतना परिवर्तन हुआ।

जब मैं सारनाथ में रह रहा था, उसी समय वहाँ के चिकित्सालय का निर्माण भी हो रहा था। चिकित्सालय की दीवाल पर लिखा है कि जो रोगियों की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। भगवान् बुद्ध के इस बात से मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने भी रामकृष्ण-सेवाश्रम की स्थापना इसी भाव से की कि रोगी की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। परन्तु मेरे मन में विचार आया कि मैं तो शिक्षक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक हूँ, चिकित्सा से मेरा क्या सम्बन्ध? इसका उत्तर भगवान् बुद्ध के उस चित्र से मिला, जिसमें भगवान् किसी रोगी का जख्म धो रहे हैं। मैंने सोचा कि मैं रोगियों के लिए यदि कुछ नहीं कर सकता, तो इतना तो अवश्य ही कर सकता हूँ कि अपनी वाणी और अपनी शारीरिक सेवा से उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करके उन्हें संतुष्ट करूँ। वास्तव में भगवान् बुद्ध ने इसे धर्माभ्यास की प्राथमिक आवश्यकता बताया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार माता अपने इकलौते बच्चे को प्यार करती है, उसी प्रकार तू संसार के सभी प्राणियों को प्यार कर।

प्रत्येक मनुष्य प्रेम का भूखा होता है। बच्चे को पिता-माता का दुलार चाहिए, स्त्री को पति का और पति को स्त्री का प्यार चाहिए, मित्र को मित्र का स्नेह चाहिए और समाज-सेवक को जनता का आदर चाहिए। इनके अभाव में सभी का जीवन कटु हो जाता है। इस कटुता के कारण ही मनुष्य एक ओर अपराधी और दूसरी ओर रोगी बनता है। हृदय से दुःखी मनुष्य अपने दुःख को अपने तक ही सीमित नहीं रखता, वह उसका वितरण समाज में भी कर देता है। अपराधी दूसरों को त्रास देकर और रोगी दूसरों को परेशान करके दुःख का प्रसार करते हैं। इनका अन्त करने के लिए हम जो उपचार करते हैं, वह रोग को और भी बढ़ाता है। अपराध का निराकरण दंड-द्वारा करने की चेष्टा करना अग्नि में आहुति डालना है। इसी तरह रोग का निराकरण औषधियों-द्वारा करना उसके जीवन-काल को बढ़ाना है। यह दमनात्मक उपाय थोड़ी दूर तक काम के होते हैं, परन्तु इनके द्वारा रोग की जड़ नहीं नष्ट होती। अपराधी और रोगी समाज का स्नेह चाहते हैं। यदि प्रारम्भ से ही इन्हें समाज एवं सज्जनों का उचित स्नेह मिलता, तो वे रोगी या अपराधी ही न बनते। वे ठीक तभी हो

सकते हैं, जब उन्हें अनुभवी व्यक्ति का उचित स्नेह मिले।

संसार के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक मैत्री भावना के अभ्यास के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का सफल उपचार कर रहे हैं। जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने अपनी मैत्री भावना-युक्त शान्त-मुद्रा के द्वारा अंगुलिमाल जैसे डाकू का हृदय-परिवर्तन करके उसे अर्हत् में परिणत कर लिया, उसी प्रकार डा० होमर-लेन ने एक नरघातक पागल को अपने सहानुभूत्यात्मक व्यवहार से एक सम्पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति बना दिया। उसने अनेक उद्दण्ड और अपराधी बालकों को इसी प्रेम-मन्त्र के द्वारा समाज का उपयोगी नागरिक बनाया।

मैत्री-भावना के चमत्कार का एक उदाहरण, जो हमारे मित्र भिक्षु जगदीश काश्यप के जीवन में चरितार्थ हुआ, इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। जब कश्यप जी पिनांग में वहाँ के बौद्धों के समक्ष एक हाल में धार्मिक प्रवचन करते थे और प्रवचन के बाद कुछ साधनाएँ करवाते थे, उस समय एक बहुत दिनों से बीमार रहनेवाली महिला एक स्ट्रेचर पर डाल कर हाल में लाई गई। भिक्षु जी जिस आसन पर बैठते थे, उसी के सामने चबूतरे पर उस महिला को लिटा दिया गया। यह महिला चल फिर नहीं सकती थी। प्रवचन के बाद भिक्षु जी ने सभी उपस्थित व्यक्तियों से महिला के आरोग्य-लाभ के लिए मैत्री-भावना का अभ्यास करने को कहा। जब सभा समाप्त हुई, तो वह महिला दूसरे लोगों के साथ ही उठकर चलने लगी। अब वह अपना रोग भूल गई थी। स्वयं भिक्षु जी इस चामत्कारिक घटना को देखकर आश्चर्ययुक्त हो गए। परन्तु सामूहिक मैत्री भावना में कितना बल है इसका ध्यान आने पर उनका विस्मय दूर हुआ।

भारत वर्ष के मनोवैज्ञानिकों और मानसिक चिकित्सकों ने मैत्री-भावना की उपयोगिता को भली-भाँति नहीं समझा है। रोगी से कराया गया मैत्री-भावना का अभ्यास उसमें मानसिक ऐक्य उत्पन्न करता है, वह मानसिक विभाजन के कारण उत्पन्न हुए रोग का निराकरण करता है। मैत्री-भावना का अभ्यास चिकित्सक के लिए भी उसी प्रकार लाभदायक है, जिस प्रकार रोगी के लिए। इससे उसके मन में निहित अपार मानसिक शक्ति का उसे ज्ञान होता है। वह दूसरे मनुष्य के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लेता और निम्न कोटि की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है।

आज भारतवर्ष में इस नई दिशा में प्रयोग होने की बड़ी आवश्यकता है। संसार के सबसे बड़े सेवक वैद्य, डाक्टर और मानसोपचारक ही होते हैं। परन्तु मैत्री-भावना के अभाव में इनका कार्य बड़ा ही थोथा हो जाता है। अर्थ की दृष्टि से की गई सेवा रोगी को पूरा लाभ नहीं करती। रोगी के लिए केवल

शारीरिक उपचार ही नहीं चाहिए, वरन् उसमें मानसिक परिवर्तन की आवश्यकता भी होती है। रोगी में अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ दमित अवस्था में रहती हैं। वह अपने आपसे घृणा करता और संसार के प्रति निराश रहता है। जब तक रोगी की यह मनोदशा परिवर्तित नहीं की जायेगी, तब तक रोग समूल नष्ट नहीं होगा। इस मनोदशा को वही व्यक्ति परिवर्तित कर सकता है, जो सहृदय, साधु स्वभाव वाला और त्यागी हो।

जिस प्रकार मैत्रीभावना से रोग की समाप्ति होती है, उसी प्रकार आनापान-सति के अभ्यास से रोग की समाप्ति होती है। आनापानसति का अभ्यास करते समय अनेक प्रकार की दमित वासनाएँ विभिन्न प्रकार के वितर्कों अर्थात् बाध्य-विचार और कल्पनाओं के रूप में चेतना के समक्ष आती हैं। चेतना के समक्ष आने पर उनका बल घट जाता है। मानसोपचार के लिए यह अनिवार्य है कि मनुष्य की दबी हुई इच्छाएँ, जो उसके अचेतन मन में उपस्थित रहती हैं, चेतना के स्तर पर आएँ। दबी हुई वासनाएँ ही अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं। इनको चेतना में लाने के लिए ही आधुनिक मानसोपचारक मनोविश्लेषण प्रक्रिया का सहारा लेते हैं। आनापानसति का अभ्यास इन दबी वासनाओं को सहज ही में चेतना के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। आनापानसति के अभ्यास से जो मानसिक शैथिल्य आता है, वह दूसरे प्रकार से नहीं आता। आनापानसति के द्वारा मनुष्य आत्म-सम्मोहन की अवस्था में आ जाता है. और कभी-कभी वह अपने शरीर के किसी भी प्रकार की वेदना से मुक्त हो जाता है।

आधुनिक काल की मानसिक चिकित्सा के एक महान् विशेषज्ञ डा० विलियम ब्राउन का कथन है, कि यदि कोई अपने अंग ढीले करके और बिस्तर पर लेटकर साँस के आने-जाने पर ध्यान दे और इस अभ्यास को करते-करते सो जाए, तो वह अनिद्रा, अकारण भय और चिन्ता, बाध्य-विचार तथा इसी प्रकार के अनेक मानसिक रोगों से मुक्ति पा लेता है। इसके द्वारा वह चित्त की एकाग्रता, स्मरण-शक्ति और आत्म-विश्वास को बढ़ा सकता है। डा० विलियम ब्राउन ने इसका प्रयोग पहली लड़ाई में मानसिक रोगों के द्वारा ग्रस्त अनेक सिपाहियों पर किया और इससे वे लाभान्वित भी हुए।

आनापानसति के द्वारा काशी मनोविज्ञानशाला ने बहुत से किशोर बालकों को अनेक प्रकार की काम-कुटेवों, अकारण भय और चिन्ता तथा बोलने में घबड़ाहट और हकलाहट से मुक्त किया है। इसके अतिरिक्त इस अभ्यास के द्वारा हमने हिस्टीरिया, हृदय की धड़कन, अनिद्रा, गंदगी और साँप के भय तथा हठी विचारों से भी रोगियों को मुक्त किया है।

मन और जगत

'मनोमात्रं जगत् कृत्स्नं मनः प्रर्यन्त मण्डलम् ।
मनोव्योम मनो भूमिर्मनो वायुर्मनो महान् ॥' —योगवासिष्ठ

निरन्तर मननशीलता ही मन है। इसके दो धर्म हैं; संकल्प और विकल्प। संकल्प और विकल्प सृजनात्मक एवं विनाशात्मक कल्पनाएँ हैं। अस्तु मन का स्वरूप कल्पनात्मक है, अर्थात् मन एक क्षण के लिए भी कल्पना-विहीन नहीं हो सकता। कल्पना कर्म-शक्ति-संयुक्त होती है, अर्थात् कल्पना में सृष्टि एवं संहार की शक्ति निहित है। भारतीय वाङ्मय के अनुसार सृष्टि के विकास का कारण स्रष्टा (ब्रह्म) की कल्पना—एक से अनेक होने की इच्छा—ही है। अतएव सम्पूर्ण विश्व ही कल्पना-प्रसूत है—मन की सृष्टि है। मन ही हमें मरकट की तरह नाना प्रकार के नाच नचा रहा है। वह जो दिखाना चाहता है, हम वही देखते हैं। हमारी समस्त कर्मेंद्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी हमारा मन अर्थात् हमारी कल्पना (इच्छा) ही है। अतएव विश्व को जानने के लिए अपने को जानना—अपने मन का विशेष ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है।

अभी कुछ क्षण पहिले की बात है। मैं बाहर कमरे में बैठा लेख लिख रहा था। मन मनन में, चिंतन और कल्पना में व्यस्त था। उसे बाह्य जगत् का विशेष ज्ञान नहीं था। अचानक माँ ने आकर कहा—'बेटा, भीतर के कमरे में बैठकर लिखो। यहाँ बड़ी बदबू आ रही है। कैसे रहा जाता है तुमसे इस दुर्गन्ध में ?'

वस्तुत कमरे का वातावरण तीव्र दुर्गन्ध से विषाक्त-सा हो रहा था। कमरे के पास ही पखाना है, जिससे कभी-कभी बड़ी बदबू निकलती है। परन्तु इस बदबू की तीव्रता की अनुभूति माँ ने घर के भीतर से की और उसके निकट रहते हुए भी मैं उससे अनभिज्ञ था। तो क्या मेरी घ्राण-शक्ति नष्ट हो गई है ? नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। मेरी घ्राण-शक्ति अत्यन्त तीव्र है, कम-से-कम माँ की घ्राण-शक्ति से न्यून तो वह किसी हालत में भी नहीं है। कारण ज्योंही माँ ने बदबू की याद दिलाई, त्योंही मुझे विकल होकर कमरे से भागना पड़ा, यद्यपि माँ ने उस स्थिति में भी किवाड़ और खिड़कियाँ बन्द कीं। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि मन के सिवा नासा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार चक्षु, कर्ण, जिह्वादि भी मन के वशवर्ती हैं। मनुष्य वही देखता है, जो उसका मन देखना चाहता है। तीर्थयात्रा के लिए लोग दूर-

दूर से काशी में आते हैं। इन व्यक्तियों का आकर्षण-केन्द्र भिन्न-भिन्न होता है। कुछ तो स्नान-पूजा और देवी-देवताओं के दर्शन से ही चतुवर्ग प्राप्त कर लेते है, और कुछ और कुछ देखना चाहते हैं। 'स्त्रियाँ विशेषतः स्नान-पूजन के उपरान्त सिन्दूर, बिन्दी, साड़ी और चूड़ी-वर्तन तथा खिलौनों की दूकानों की ओर मुड़ती हैं, और उनके आकर्षण के स्थान वे होते हैं, जो पुरुष यात्रियों को स्वभावतः दीख भी नहीं पड़ते। इसका कारण यही है कि स्त्रियाँ सिर्फ शंकर का ही नहीं, बल्कि चूड़ी-वर्तनों का भी मनन करती हुई घर से निकलती हैं। मनुष्य के मन में जो रहता है, बाहर भी उसे वही दिखाई देता है। हाल ही में एक परिचित सज्जन काशी आए हुए थे। इन्होंने अपना बहुत-सा समय सारनाथ और विश्वविद्यालय में बिताया। जब ये सारनाथ के भग्नस्तूपों, खण्डहर की टूटी-फूटी ईंटों, में बहुत देर तक दृष्टि जमाए रहते, तो उनके साथियों को समय के असदुपयोग का ज्ञान होता था और वे उक्त सज्जन को बार-बार इस बात की याद दिलाते थे कि इन खण्डहरों में ईंट-पत्थरों के टुकड़ों के सिवा और कुछ भी नहीं है; सभी दर्शनीय वस्तु तो चम-चमाते भव्य मन्दिरों में हैं। परन्तु पुरातत्व के प्रति रुचि रखनेवाले उन महाशय को नवीन मन्दिरों में कुछ भी सौंदर्य नहीं दीखा। अब प्रश्न उठता है कि वस्तुतः सौंदर्य कहाँ है, धूल-धूसरित खण्डहरों में या भव्य-भवनों में? जब दो व्यक्ति एक ही चीज को भली और बुरी कहते हैं, तो भलाई-बुराई वस्तु में नहीं; बल्कि व्यक्ति के मन में है। बाह्य जगत् हमारे अन्तर्मन का आरोपण मात्र है। सुधांशु की जो किरणें संयोगिनी को सुधामयी लगती हैं, वे ही वियोगिनी पर अंगारों की वर्षा करती हैं। अस्तु बाहर न तो सत्य है, और न असत्य। यह सारा विश्व ही मन का, कल्पना और विचारों का प्रसार है। जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही देखता है। तुलसीदास के शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि जाकि रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी। प्रभु के प्रतीक इस बाह्य जगत् को व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुसार ही देख लेता है। जिस व्यक्ति ने भारत के प्राँचीन साहित्य का अध्ययन किया है, उसे सारनाथ के उजाड़ खण्डहर में भी समस्त बौद्ध-दर्शन और बौद्ध-धर्म के निगूढ़ तत्व सजीव एवं साकार दीख पड़ेंगे; अन्यथा वहाँ ईंट और पत्थर ही रहेंगे। एक सज्जन को बनारस की सारी सुषमा लक्खी-चौतरा में कपड़े की आढ़तों में मिली और दूसरे ने बनारस की सारी मस्ती को दालमण्डी की गलियों में पाया। पहिले व्यक्ति कपड़े के व्यापारी थे। उनके तीर्थ-पर्यटन के मूल में व्यापार छिपा था; और दूसरे व्यक्ति गो-हत्या का प्रायश्चित करने आए थे, जिनकी गो-हत्या का कारण उनका वेश्या-प्रेम था।

ये सज्जन किसी-न-किसी बहाने प्रायः बनारस आया ही करते थे। फलतः उनकी स्त्री को उनके चरित्र पर सन्देह हो गया और उसने उनपर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया। अतएव उन्हें अपनी प्रबल इच्छा का दमन करना पड़ा। परन्तु इच्छाएँ दमित होकर नहीं रहतीं, वे किसी-न-किसी प्रकार से चेतना को प्रभावित करती ही रहती हैं। परिणामतः इन महाशय ने अनजान में ही एक बछिया की हत्या कर डाली, जिससे उन्हें बनारस आने और अपनी प्रबल काम-वासना की तृप्ति करने का अवसर मिल गया। हमारे एक मित्र को विश्वविद्यालय की सड़कों पर घूमनेवाली सभी लड़कियाँ सम्पूर्ण उलंग दीखती थीं; और इस तरह प्रबल कामोत्तेजना से उन्हें शारीरिक क्षति भी होती थी। मनोविश्लेषण से पता चला कि किसी विशेष निकट सम्बन्धीय व्यक्ति के प्रति उनकी कामेच्छा थी, जिसका दमन उनकी नैतिकता ने कर दिया था। बाह्य संसार की नग्नता में उस विशिष्ट व्यक्ति के गुप्तांगों को देखने की इच्छा का ही तृप्तिकरण होता था।

कहने का तात्पर्य यही है, कि ऊपर से देखने पर मनुष्य परिस्थितियों-द्वारा संचालित होता है, परन्तु वस्तुतः परिस्थितियों का निर्माता वह स्वयं है। बाह्य-जगत वैसा नहीं है, जैसा वह है; बल्कि वह तो वैसा ही है, जैसा मनुष्य का मन उसे देखना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति वहीं है, जहाँ वह रहना चाहता है, उसी तरह है, जिस तरह वह रहना चाहता है और उसी लिए है, जिस लिए वह रहना चाहता है। मनुष्य के जीवन-मरण और बन्धन-मोक्ष का कारण मन ही है। अस्तु मन का स्वामी विश्व का स्वामी और मन का दास जगत् का दास होता है। अतएव जगत को जानने के लिए उसके कारण-रूप अपने मन को जानना परमावश्यक है। जिसने जगत के कारण रूप मानव-मन को जान लिया, उसके लिए संसार में कोई वस्तु अकारण अथवा कोई परिस्थिति प्रतिकूल नहीं रहेगी। रोग के उपशमन के लिए उसके कारण को जानना आवश्यक होता है। कारण में परिवर्तन आने से ही कार्य में परिवर्तन आता है।

अतः जब हमने जगत् के कारण का निराकरण कर लिया, तो हम उस कारण के द्वारा अनुरूप सृष्टि का निर्माण भी कर सकते हैं। कहा जाता है कि कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य जो चिन्तन करता है, वस्तुतः वही हो जाता है। यह कल्पवृक्ष मनुष्य के मन के सिवा और कुछ नहीं है। परन्तु कल्पवृक्ष की क्रियाओं से अनभिज्ञ मनुष्य जिस प्रकार उसके नीचे बैठ बाघ-भूत की कल्पना कर अपना ही विनाश कर लेते हैं; उसी प्रकार मन की शक्तियों से अपरिचित व्यक्ति उसका दुरुपयोग कर अपने को ही विनष्ट कर डालता है।

लोभी और स्वार्थ के वशीभूत होकर कार्य करनेवाले व्यक्तियों का मनोबल नष्ट हो जाता है। ऐसे व्यक्ति परिस्थितियों के दास होते हैं और इनकी घृणित मृत्यु का कारण इनका मन ही होता है। ऐसे व्यक्ति कष्टपूर्ण संसार की सृष्टि करते हैं, और संसार के लिए कष्ट-रूप होते हैं। इसके विपरीत निर्लोभ एवं परोपकारी व्यक्ति होते हैं, जो भौतिक दृष्टि से साधन-हीन होते हुए भी जगत में महान कार्य कर दिखाते हैं। दूसरे की भलाई के लिए विराट बोझ उठाकर भी मन सबल रहता है, पर अपने लिए (स्वार्थ के लिए) अति लघु बोझ उठाने पर भी उसकी कमर टूट जाती है—वह शक्ति-हीन हो जाता है।

अतएव अच्छे कार्य करने के लिए अच्छे विचारों को मस्तिष्क में स्थान देना चाहिए। मनुष्य वही है, जो वह सोचता है अथवा वह वही हो जाता है, जो वह सोचता है। मनोविज्ञान के पाश्चात्य पण्डित भी अब उन्हीं बातों की पुष्टि कर रहे हैं, जिन्हें भारतीय दार्शनिकों ने शताब्दियों पूर्व कहा था। हेनरी नाइट मिलर ने अपनी 'प्रेक्टिकाल साइकालाजी' नामक पुस्तक में लिखा है 'तुम जहाँ अथवा जो हो, इसका कारण तुम्हारी विचार-धारा ही है। तुमने अपने विगत जीवन में जो सोचा था, वर्तमान जीवन में तुम वही हो। यदि तुम 'जहाँ' या 'जो' हो, वहाँ या वह नहीं रहना चाहते, तो अपने विचारों में परिवर्तन करो; फिर तुम देखोगे कि तुमने 'जहाँ' और 'जो' में भी परिवर्त्तन कर लिया है।'*

योगवासिष्ठ की भी यही उक्ति है। वसिष्ठजीने रामचन्द्रजी से कहा—

'यद्यत्संवद्यते किञ्चित् तेन तेनाऽऽशु भूयते।
मनो मनन्न निर्माणं यथेच्छसि तथा कुरु ॥'

सारांश यही है कि मनुष्य वही अथवा उसी प्रकार का हो जाता है, जो या जैसा वह होना चाहता है। मन का कार्य है मनन करना, निर्माण करना। अतएव मन की कर्मशक्ति के द्वारा मनुष्य जैसा अथवा जो चाहता है, वह वैसा अथवा वही कर सकता है।

—किरीट भूषण मिश्र

---

* You are where you are, You are what you are, because of the way you have been thinking for the last twenty or thirty years. If you do not like where you are or what you are, change your way of thinking and you will change what you are and where you are.

शिक्षा और मानवता

आधुनिक युग शिक्षा का युग है। वर्तमान काल में बालक की शिक्षा की ओर जितना ध्यान दिया जाता है, उतना पहले कभी नहीं दिया जाता था। जितने प्रतिशत लोग हमारे युग में साक्षर हैं उतने पहले कभी नहीं थे। मशीनों के आविष्कार ने शिक्षा के साधन सुलभ कर दिये हैं। जिस प्रकार विज्ञान की वृद्धि शिक्षा का परिणाम है, उसी प्रकार शिक्षा की वृद्धि भी विज्ञान के आविष्कारों का परिणाम है। आज न केवल पुस्तकों और पाठशालाओं के द्वारा मनुष्य की शिक्षा होती है, वरन् चलचित्रों, टाकियों और रेडियो के द्वारा भी समाज की शिक्षा होती है। किसी व्यक्ति का उपयोगी विचार, चाहे वह हजारों मील दूर पर क्यों न सोचा गया हो, वितरण के साधनों के द्वारा हमें आज सुलभ है।

शिक्षा के इन साधनों को देख और साक्षर मनुष्यों की संख्या को जानकर आशा की जाती है कि मनुष्य अब पहिले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और सुखी होगा। पर ऐसा हुआ नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य के सुख की सामग्री बढ़ती गई, तैसे-तैसे उसके दुःखों की संख्या भी बढ़ती गई। आधुनिक युग में पागलों और आत्महंताओं की जितनी संख्या है, उतनी पहिले नहीं थी। नये-नये रोगों की सृष्टि होती जाती है। जैसे-जैसे चिकित्सक बढ़ते हैं, तैसे-तैसे रोग भी बढ़ते जाते हैं। फिर आपस की ईर्ष्या, कलह और इनसे उत्पन्न भय और चिन्तायें भी मनुष्य के स्वास्थ्य को खाये जाते हैं। जहाँ देखो वहाँ दुःख-ही-दुःख दिखाई देता है।

इस प्रकार के विपरीत परिणाम का कारण क्या है? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तो हमें ज्ञात होता है कि हमने वास्तव में अपने आपको शिक्षित नहीं बनाया, सन् १९२५ में शिकागो विश्वविद्यालय के एक महान विद्वान प्रोफेसर जेफरसन भारत आये थे। उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए बताया था कि हमारी शिक्षा लक्ष्य-हीन है अथवा इसका लक्ष्य बहुत ही निकृष्ट है। यदि ऐसा नहीं होता, तो १९१९ का विघ्नकारी युद्ध क्यों होता। उस युद्ध में करोड़ों मनुष्यों के प्राण गए, करोड़ों लँगड़े-लूले और बे-घर-द्वार के हो गये। जो राष्ट्र उस समय लड़े थे, वे सभी सभ्य थे। उनके नागरिक शिक्षित थे। फिर यदि हमारी शिक्षा हमें इस दुःखद परिणाम पर पहुँचने से नहीं बचाती, तो उस शिक्षा को कहाँ तक सफल कहा जा सकता है। उन्होंने कहा कि हमारी लौकिक शिक्षा मनुष्य को धन कमाने का मार्ग बताती है। शिक्षित

होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक धनी बनना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र पड़ोसी राज्य से अधिक धनी होने की चेष्टा करता है। जब उसके पास धन जुट जाता है, तो दूसरे राष्ट्र उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। पड़ोसियों की ईर्ष्या धनी राष्ट्र के मन में भय उत्पन्न करती है। उसे डर रहता है कि पड़ोसी राष्ट्र कहीं उसके धनको छीनने के लिये उस पर आक्रमण न कर दे। इस भय के कारण वह राष्ट्र अस्त्र-शस्त्र का संचय करता है। वह अपनी सैन्य शक्ति छिपे-छिपे बढ़ाता है। जब इसका ज्ञान उसके पड़ोसियों को होता है, तो वे भी अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने लगते हैं। फिर जब दुर्भावनाएँ और सैन्य-सामग्री इकट्ठी हो जाती है, तो एक चिनगारी ही महा विस्फोट को उत्पन्न कर देती है। कोई सामान्य-सी घटना ही महायुद्ध का प्रारम्भ कर देती है।

इससे यह प्रत्यक्ष है कि जब तक मनुष्य अपने जीवन का उद्देश्य केवल धन कमाना अथवा शक्ति एकत्र करना ही बनाये रखेगा, तब तक संसार में महा-युद्ध होते ही रहेंगे। जीवन के उद्देश्य शिक्षा के द्वारा प्राप्त होते हैं। हमारी शिक्षा ही लौकिक सम्पन्नता के लिये है। जो व्यक्ति शिक्षा पाकर धन कमाने में असमर्थ रहता है, उसे हम शिक्षित नहीं मानते। जिसे अधिकार है, वही शिक्षित है। जब तक शिक्षा का उद्देश्य नहीं बदल जाता, तब तक मनुष्य कभी भी सुख और शान्ति से नहीं रह सकता। जेफरसन महाशय ने उस समय बताया था कि शिक्षा का सच्चा उद्देश्य मानवता का विकास होना चाहिये। जो शिक्षा मनुष्य को मनुष्य के रूप में दिखने में अभ्यस्त नहीं कराती, जो शिक्षा मनुष्य के हृदय में भ्रातृ-भाव के विचारों का संचार नहीं कराती, वह शिक्षा वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य ही नहीं है। शिक्षित मनुष्य की दृष्टि सभी मनुष्यों में एकता देखने की होती है। सभी को भूख लगती, आपत्ति आनेपर सभी को दुःख होता है, सम्बन्धियों के मरने पर सभी रोते हैं, सभी के शरीर में एक-सा ही रुधिर बहता है, फिर भी हम अपने भेदभाव में इतने जकड़े हुए हैं कि अँग्रेज जर्मन को, जर्मन फ्रांसीसी को, गोरा काले को और काला गोरे को मनुष्य मानने के लिये तैयार नहीं है। यह शिक्षा नहीं, यह तो दानवता का पोषण करनेवाली ट्रेनिंग है।

जिस प्रकार के विचार श्री जेफरसन महाशय ने हमारी शिक्षाप्रणाली के विषय में कहे, उसी प्रकार के विचार टाल्सटाय महाशय ने एक शदी पूर्व कहे थे। हमारा आधुनिक विज्ञान मनुष्य को और सभी बातें तो सिखाता है, परन्तु वह अपने भाई मनुष्य के साथ रहना नहीं सिखाता। आधुनिक विज्ञान—युग में शिक्षित व्यक्तियों और राष्ट्रों में जितना वैमनष्य है, उतना अशिक्षित लोगों में

नहीं रहता। शिक्षित व्यक्ति ही अशिक्षित लोगों को बुरे विचार सुझाकर एक दूसरे का गला काटने की प्रेरणा देते हैं। वे ही उनमें द्वेष-भावनाओं को भरते हैं, ताकि वे अधिकारयुक्त बने रहें।

संसार के सभी चिन्तनशील व्यक्तियों का मत है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, जो कि मनुष्य को केवल लौकिक जीवन में सफल होने की योग्यता देने की चेष्टा करती है, वास्तव में मनुष्य के लिये हानिकारक है। आज मानव हाब्स महाशय के इस सिद्धान्त को चरितार्थ कर रहा है कि मनुष्य मनुष्य के लिये भेड़िया है। यदि वह भेड़िया जैसा काम नहीं कर सकता, तो उदारता के कारण नहीं; वरन् वह भय-वश ऐसा नहीं करता। मनुष्य जन्म से चाहे जैसा हो, परन्तु शिक्षा का उद्देश्य तो यही होना चाहिये कि वह मनुष्य के लिये देवता बने। उनमें सहृदयता, उदारता, सचाई और सेवा आदि गुण आवें। इनके आये बिना मनुष्य चाहे जितना विद्वान क्यों न बन जाय, उसकी शिक्षा व्यर्थ ही होगी। वह समाज को सुखी न बनाकर दुखी ही बनाएगा।

जब कोई मनुष्य शिक्षित हो जाता है, तो वह दूसरों से बेईमानी करने, उनका शोषण करने और अपने ऐस-आराम की सामग्री जोड़ने अथवा दूसरों पर अपना रोब जमाने की बातें सोचने लगता है। इसके परिणाम-स्वरूप वह अपने और दूसरों को दुःखी बनाता है। उससे संसार के सीधे-साधे लोगों को भय होने लगता है। फिर या तो वे उसी का अनुकरण करके अपने आप क्रूर-कर्मी बन जाते हैं, अथवा उसके विनाश की भावना मन में लाने लगते हैं। फिर संसार में चारों ओर द्वेष के विचारों का प्रसार हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप बड़ी-बड़ी भयानक बीमारियाँ, अकाल और विश्व-संहारक युद्ध उपस्थित होते हैं। यदि संसार के शिक्षित लोग दूसरों के शोषण के विचारों को छोड़ उन्हें सुखी बनाने की कामनायें मन में लाते, तो आज संसार कितना अच्छा होता। पर इस प्रकार की शिक्षा हमें मिली ही कहाँ?

सच्ची शिक्षा वह है, जिसमें मनुष्य यदि देवता नहीं बनता, तो मनुष्य तो बनता है। जब हम मनुष्यत्व की कल्पना करते हैं, तो हम मनुष्य को स्वभाव से भेड़िया नहीं मान लेते। यदि ऐसा होता, तो समाज में किसी प्रकार की भलाई का आना असंभव होता। फिर महात्मा बुद्ध, कबीर, ईशा, सुकरात, लूथर, मेजिनी, गेरीसन, लिंकन आदि जैसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव कहीं असंभव होता। प्रत्येक व्यक्ति में अपने आपको भला बनाने की प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा की उपस्थिति ही यह दर्शाती है कि मनुष्य स्वभाव से भला है। शिक्षा का कार्य है कि वह इस प्रेरणा को और भी प्रबल बनावे और अन्तरात्मा की इस आवाज

को धीमी न होने दे। सच्ची शिक्षा मनुष्य की अन्तरात्मा के लिये लाऊड स्पीकर का काम करती है। हमारी अन्तरात्मा जो कहती है, उसी को हम सच्ची शिक्षा से अनेक साधनों के द्वारा प्राप्त करते हैं। ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, विद्वान पुरुषों के भाषणों आदि से हमें वही ज्ञान मिलेगा, जो हमारी अन्तरात्मा में है। परन्तु यह तभी होगा, जब वे सच्ची शिक्षा के उद्देश्य को लेकर चलेंगे।

मनुष्य का स्वभाव अभ्यास का परिणाम है। प्रति-दिन के विचार और भावनायें मनुष्य के स्वभाव को बनाती हैं। जिस प्रकार मनुष्य दुर्भावनाओं के द्वारा पशु से भी बुरा हो सकता है, उसी प्रकार वह सद्भावनाओं के अभ्यास से भले-से-भला व्यक्ति बन सकता है। पतन की ओर जाना अवश्य सरल है और उत्थान की ओर जाना कठिन। पर मनुष्य का स्वभाव यदि विकासोन्मुख न होता, तो भले-बुरे का विचार ही उसमें न आता। उठने की अपेक्षा सभी लोगों के लिये गिरना सरल है। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य गिरे हुए नहीं रहते। वे उठे हुए, चलते-फिरते रहते हैं। नैतिक जगत में भी यही बात सत्य है। भलाई की आशा और भलाई के आधारसे ही मनुष्य जीता है। अतएव मनुष्य को भला बनाना उतना कठिन नहीं है, जितना समझा जाता है।

यदि हम रूसो महाशय के कथन पर विश्वास करें, तो हम मनुष्य के स्वभाव के सुधार में उतने निराशावादी नहीं होगें, जितने साधारणतः लोग रहते हैं। रूसो का कथन है कि प्रत्येक वस्तु जैसी वह परमात्मा के हाथ से आती है, भली होती है, परन्तु मनुष्य के हाथ में आने पर ही वह विकृत हो जाती है। प्रकृति ने मनुष्य को भला बनाया, परन्तु समाज उसे अपनी कृत्रिम शिक्षा देकर बिगाड़ डालता है। यदि बालक को प्रकृति के सम्पर्क में रहने दिया जाय और समाज उसमें कृत्रिमता डालने की चेष्टा न करे, तो वह सहज में ही भला व्यक्ति बन जाय। पर हम प्रकृति को अपना कार्य नहीं करने देते। हम बालक में अपने ही अनेक ईर्ष्या द्वेष के विचार शैशवकाल से ही डाल देते हैं।

अब यदि शिक्षक बालक के मनमें द्वेष और क्रोध के विचारों को न डाल कर भ्रातृ-भाव, उदारता और सेवा के विचारों को डाले, तो क्या यह संसार नरक की जगह स्वर्ग न बन जाए। संसार के धर्म-प्रवर्तकों ने यही सिखाया है कि मनुष्य मनुष्य को अपना भाई माने और वह उसके दुःख-सुखमें हाथ बँटावे। बुद्ध, ईशा, कबीर, गुरु नानक और रामदास की शिक्षा भी यही कहती है। पर धर्म-प्रचार के परिणाम-स्वरूप मनुष्यों में भ्रातृ-भाव का जागरण न होकर द्वेष-भावना की वृद्धि ही हो रही है। धर्म के नाम पर जितनी खून-खराबी संसार में हुई, उतनी और दूसरे कारणों से नहीं हुई। अतएव अब धर्म से मनुष्य विमुख

हो चला है। वह सोचने लगा है कि धर्म मनुष्यों को धोखे में रखने और उनके अज्ञान से लाभ उठाने का कुछ चालाक लोगों का साधन मात्र है।

परन्तु इस प्रकार धर्म से मुक्त हो जाने से क्या मनुष्य में कोई सुधार हो सकता है। धर्म का स्थान जब तक कोई दूसरी वस्तु नहीं लेती, जो मनुष्य में उदारता के भावों को उत्पन्न करे, तब तक मनुष्य पशुवत् ही बना रहेगा। धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाने का पुराना साधन था। अब कोई दूसरा साधन होना अनिवार्य है। जब तक हमारे साधारण शिक्षालय वही काम नहीं करने लग जाते, जो पहले धर्म करता था, तब तक मनुष्य पाशविकता से मुक्त न होगा। यदि शिक्षालयों के द्वारा केवल विषय लोलुपता, धन-पिपासा और तज्जनित ईर्ष्या-द्वेष आदि की मनोवृति की वृद्धि होती है, तो शिक्षालय अपने ध्येय की प्राप्ति में असफल ही समझे जायँगे। पुराने समय में मनुष्य को ईश्वर-भक्त बनाकर उसे सुधारने की चेष्टा की जाती थी। वैज्ञानिक युग में यह सम्भव नहीं। वैज्ञानिक बुद्धि से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। परन्तु मनुष्य के सुधार की आवश्यकता तो बनी ही है। भगवान बुद्ध ने ईश्वर-भक्ति को अलग कर मन को शुद्ध बनाने की साधना को उसका स्थान दिया। इसके लिये उन्होंने मैत्री-भावना का अभ्यास, राष्ट्र सेवा आदि उपाय बनाए। हमने अपने को सुधारने का यह ढंग भी नहीं अपनाया। परन्तु हमें कोई न-कोई ऐसा उपाय तो सोचना ही पड़ेगा, जिससे हम अपनी स्वार्थमयी प्रवृतियों पर विजय प्राप्त करें।

वर्तमान काल की शिक्षा की प्रमुख समस्या यही है। यदि संसार के शिक्षा-विशारद इस समस्या को हल कर सकें, तो वे समाज को सुखी बनाने में समर्थ होंगे, परन्तु यदि यह समस्या हल न हुई, तो समाज सभी प्रकार की वैज्ञानिक शिक्षा के होते हुए भी दिन-प्रति-दिन दुःखी होते जावेगा। संसार के विघ्नकारी युद्ध तब तक नहीं रोके जा सकते, जब तक हमारी शिक्षा में मौलिक सुधार नहीं होता। केवल राजनैतिक चालें मनुष्य को उस परिणाम से नहीं बचा सकतीं, जो उसके प्रति-दिन के स्वार्थ-मयी चिन्तन में निहित है।

जब हम इन बातों पर विचार करते हैं, तो हमारे मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली के सारे क्रम को ही बदलना आवश्यक है। यह प्रयास किसी एक राष्ट्र अथवा व्यक्ति का नहीं हो सकता। यह तो सारे विश्व का प्रयास हो सकता है। जब कोई एक ही राष्ट्र अपनी हठ-धर्मी से अपनी शिक्षा-प्रणाली को समय की गति के प्रतिकूल बना लेता है, तो वह दूसरों को भलाई की ओर ले जाने के लिये पथ-प्रदर्शक बनकर स्वयं उसकी दया का पात्र बन जाता है। बली पुरुष और बली राष्ट्र ही दूसरों के पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं।

हमारे जीवन के आदर्श

मनुष्य के जीवन के आदर्श उसके व्यक्तित्व को प्रकाशित करते हैं तथा उसे छिपाते भी हैं। उसके जीवन के आदर्श उसकी प्रगति में सहायक होते हैं तथा उसको नीचे की ओर भी ढकेलते हैं। यह तो सभी लोग जानते हैं कि मनुष्य के जीवन के आदर्श उसके व्यक्तित्व को प्रकाश में लाते हैं तथा उसको प्रगति में सहायक होते हैं। किन्तु यह बात थोड़े ही लोग जानते हैं कि ये आदर्श इससे ठीक उल्टा काम भी करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन इसी सत्य को प्रकाश में लाता है।

संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युंग ने बताया है कि मनुष्य के चेतन मन के कार्य और उसकी अचेतन भावनाओं में समीकरण का नियम काम करता है। जो बात जितनी ही अधिक उसकी चेतना में प्रबलता से स्थान ग्रहण किये रहती है और उसकी चेतन क्रियाओं में प्रकाशित होती रहती है, उसकी ठीक विरोधी भावना उसके अचेतन मन में रहती है। इस प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य, तप, दया और लोक-सेवा के लिए संसार में प्रसिद्ध रहते हैं और जो समाज में सदा इन्हीं सद्गुणों का प्रचार किया करते हैं, जो अपने आपको भी ब्रह्मचारी तपस्वी, दयावान और लोक-सेवक के रूप में जानते हैं, वे अपने अचेतन मन में इन गुणों के विरोधी गुणों को संचित किये रहते हैं। किसी भी गुण या वस्तु का व्यय उपयोग से हो जाता है। जिस गुण अथवा तत्व का उपयोग नहीं होता, वह हमारे व्यक्तित्व की किसी अँधियारी कोठरी में संचित रखा रहता है। यदि मनुष्य अपने सब सद्गुणों को प्रकाशित कर दे, तो आपत्ति काल में उसे अपने उपयोग के लिए उसके दुर्गुण मात्र ही रह जायेंगे।

मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त यह भी है कि चेतना कभी भी खाली नहीं रहती। चेतना में जब तक हम सद्गुणों को प्रकाशित करते रहते हैं, तब तक हम मनुष्य के व्यक्तित्व में सद्गुणों का बाहुल्य देखते हैं। इसके कारण ही हम उसे साधु-संत एवं महात्मा कहते हैं। परन्तु दीर्घ काल तक इन गुणों के प्रकाशन से ये सब खर्च हो जाते हैं और फिर चेतना खाली रह जाती है। इस खाली स्थान को भरने के लिए मनुष्य के अचेतन मन में पूर्व संचित दुर्गुण अपने आप ही चले आते हैं। अतएव, यदि हम अपने चरित्र में अत्यन्त दयाशीलता, उदारता, तपस्या, सत्यवादिता और अस्तेय तथा अहिंसा को दिखाते हैं, तो डर है कि कुछ समय के बाद इनके ठीक प्रतिकूल गुणों को हम अपने जीवन में अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही व्यक्त करने लगेंगे।

आधुनिक मनोविज्ञान ने हमारे चेतन और अचेतन मन के संबंध-विषयक एक और नियम पर प्रकाश डाला है। जब मनुष्य के अचेतन मन में भय की प्रबलता होती है, तो इस मनोस्थिति को छिपाने के लिए वह बहादुरी की चर्चा बहुत करता है। बहादुरी की डींग मारनेवाला मनुष्य इस तरह भीतरी मन से कायर होता है। तपस्या का बाना धारण करनेवाला व्यक्ति भीतरी मन से विषय लोलुप होता है। हर समय सच्चाई की चर्चा करने वाला व्यक्ति अपने भीतरी मन में मिथ्याचारी होता है। जगत को शान्ति के संदेश देनेवाले व्यक्ति भीतरी मन से न केवल अशान्त रहते हैं, वरन् वे शान्ति की स्थापना की सम्भावना में विश्वास ही नहीं करते। वह जो कुछ भी चेतन मन से करता है, अचेतन मन की स्थिति को भूलाने के लिए करता है। जिन अभिभावकों के बचपन का जीवन व्यभिचार में बीता है, वे बच्चों के चरित्र के ऊपर वक्र दृष्टि रखते हैं। वे हर समय चिन्तित रहते हैं कि कुसंगत में पड़ कर उनका बच्चा बिगड़ न जाय। ऐसे ही अभिभावकों के संरक्षित बालक अधिक-से-अधिक व्यभिचार की प्रेरणा अपने आपमें पाते हैं। जब तक अभिभावक उनके ऊपर सतर्क रहते हैं, तबतक उनकी पाशविक प्रवृत्तियाँ दमित रहती हैं। परन्तु इस दमन से उनका बल संचित होकर बढ़ते जाता है। जब अभिभावकों का नियंत्रण ढीला हो जाता है, तब ये प्रवृत्तियाँ एकाएक उनके चरित्र में प्रकाशित होने लगती हैं। मनुष्य के चेतन और अचेतन मन के बीच उसी प्रकार का संबंध है, जिस प्रकार का संबंध बालक और उसके अभिभावक में है। जब तक चेतन मन में शक्ति और सामर्थ्य रहती है और जब तक वह सतर्क रहता है, तब तक वह प्रायः अचेतन मन की पाशविक प्रवृत्तियों का दमन भी करता रहता है। परन्तु इस दमन की सीमा भी है। दमन से अचेतन मन की शक्ति बढ़ती जाती है। इधर चेतन मन को लौकिक व्यवहार और शक्ति में खर्च करना पड़ता है। इस प्रकार उसकी शक्ति घटती जाती है। फिर जब चेतन मन की शक्ति एक सीमा से कम हो जाती है, तब अचेतन मन की भावना चेतना के प्रतिबन्धों को तोड़कर अपना वीभत्स अभिनय मनुष्य के जीवन में करने लगती है। इसी कारण मनुष्य अनेक प्रकार के असाधारण अनैतिक आचरण अपराधादि करता है और इसी के कारण वह कभी-कभी विक्षिप्त तथा मानसिक रोगी भी बन जाता है। इस तरह मनुष्य की अत्युच्च आदर्शवादिता उसके व्यक्तित्व की प्रगति न कर उसे अधोगति की ओर ले जाती है।

कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन के लम्बे - चौड़े आदर्शों को संसार के समक्ष रखकर संसार को अपने विषय में धोखे में रखता है। उसका स्वयं का विश्वास इन आदर्शों में नहीं रहता। जिस प्रकार गरीब जनता पर राज्य करनेवाले लोग

जनता में धर्म, ईश्वर, दया और आस्तिकता का प्रचार करते हैं तथा स्वयं इन बातों को अन्धविश्वास के रूप में मानते हैं, उसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ राजनीतिक संसार को अपने विषय में धोखे में रखने के लिए शान्ति-दिवस मनाते तथा सेना को कम करने के नारे देते तथा 'मोरल रि आर्मामेंट' पर विशेष जोर देते हैं। ये सभी प्रकार की राजनीतिक चालें दुनिया के बेवकूफ लोगों को धोखे में रखने के लिए चली जाती हैं। जिस प्रकार दूर बैठी हुई चिड़िएँ को पकड़ने के लिए बिल्ली इतनी दुबकती है कि वह जमीन से ही लग जाती है, उसी प्रकार राजनीतिक लोग संसार के कमजोर राष्ट्रों पर छापा मारने के लिए शान्तिप्रियता का अभिनय करते हैं—अनेक प्रकार से उन्हें अपनी दया तथा प्रेम प्रदर्शित करते हैं। परन्तु इस प्रकार का अभिनय बहुत दिनों तक नहीं चलता। प्रकृति मनुष्य के भीतरी स्वत्व को व्यक्त कर ही देती है।

दूसरों को धोखा देनेवाले लोग उतने बुरे नहीं हैं तथा वे जीवन में उतना क्लेश नहीं उठाते, जितना क्लेश अपने आपको धोखा देनेवाले उठाते हैं। जीवन के एकांगी आदर्श सदा दुःख-मूलक होते हैं। जीवन के वे ही आदर्श उपयोगी और स्थायी होते हैं; जिनमें मनुष्य के व्यक्तित्व के सभी अंगों का प्रकाशन समाजोपयोगी कार्यों में होता रहता है। अरस्तू के इस कथन में मौलिक सत्य है कि सभी सद्‌गुण सीमित रूप में प्रकाशित होने से मनुष्य का कल्याण करते हैं। जब किसी सद्‌गुण का प्रकाशन एक सीमा के बाहर हो जाता है, तो ये सद्‌गुण या तो उसके व्यक्तित्व का आवरण बनते हैं, अथवा वे अपने प्रकाशन मात्र से ही मनुष्य के व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाते हैं। आधुनिक काल में भारतवर्ष में चरित्र-निर्माण तथा आदर्शवादिता की बड़ी ही चर्चा हो रही है। यदि इस चर्चा में मनोविज्ञान के उपर्युक्त सत्य को ध्यान में न रखा गया, तो इससे सुदूर भविष्य में हमारे नव युवकों का लाभ न होकर हानि होने की ही सम्भावना है। इससे उनके व्यक्तित्व का विकास न होकर उसका ह्रास होने का भय है।

—प्रो० लालजी राम शुक्ल



मनुष्य का मानसिक बल कैसे बढ़े ?

मनुष्य का मानसिक बल अपने मनोभावों पर विजय प्राप्त करने पर निर्भर करता है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव इच्छा का सहगामी है। इच्छाओं का जन्म मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से होता है। मेक्डूगल के अनुसार भाव मूल प्रवृतियों के सहगामी होते हैं। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं का जितना ही दास होता है, जिसका जीवन जितना ही मूल प्रवृतियों-द्वारा संचालित होता है, उसमें भावों अर्थात् राग-द्वेष की उतनी ही प्रबलता होती है। ऐसे व्यक्ति के मन में मानसिक द्वन्द्व उतनेही अधिक होते हैं। ये द्वन्द्व या तो मनुष्य की चेतना के ऊपर होते हैं, अथवा उसके नीचे। सभी प्रकार के मानसिक द्वन्द्व से मनुष्य की शक्ति का ह्रास होता है। मानसिक द्वन्द्व की अवस्था में मनुष्य नैतिक आचरण नहीं कर पाता। वह कभी एक ओर खींचा जाता है, और कभी दूसरी ओर।

जबतक मनुष्य की मानसिक शक्ति एकमुखी नहीं होती, तब तक वह जीवन में बड़ा काम नहीं कर सकता। राग-द्वेष की प्रबलता में मनुष्य की मानसिक शक्ति बँटी रहती है, अतएव ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल रहती है। जब मनुष्य के प्रबल राग अथवा द्वेष का दमन होता है तो मनुष्य ऊपर से राग रहित हो जाता है; परन्तु भीतरी स्थिति इसके ठीक विपरीत होती है। इस प्रकार के दमन से मनुष्य चेतनाशून्य सा हो जाता है।

हाल ही की बात है। एक रोगी अपनी साली को बहुत ही चाहता था। वह उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था परन्तु यह संभव नहीं हुआ। अतएव जिस दिन उस महिला का विवाह हो रहा था, उस दिन वह भूल गया कि मैं कौन हूँ और कहाँ रहता हूँ। वह कपड़े-लत्ते भी नहीं पहन सकता और दूसरों के कहने पर भोजन करता था। उसे यह आत्मविश्वास भी जाता रहा कि वह अपना भोजन हाथ से उठाकर मुंह में डाल सकता है। जब वह इस स्थिति से कुछ निकला, तो वह कहने लगा कि उसका मन सर्वथा वेदनाशून्य हो गया है। उसे दुःख-सुख, प्रिय-अप्रिय का कोई अनुभव नहीं होता। इस प्रकार की मनोदशा प्रबल आवेगात्मक भाव के दमन से हो जाती है।

इस प्रकार की मनोदशा से निकलने के लिये दो प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। राग की वृद्धि रोकने के लिये चाही हुई वस्तुओं के प्रति वैराग्य का अभ्यास करना और अप्रिय वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करना। जहाँ अनुराग की वृद्धि होती है, वहाँ द्वेष की उत्पत्ति अपने

आप ही हो जाती है। राग में सुख का अनुभव होता है और द्वेष में दुःख का। दोनों अवस्थाओं में मन दुर्बल हो जाता है।

राग और द्वेष की अवस्था में मनुष्य न्याय करने की क्षमता खो देता है। उसे शुद्ध सत्य के दर्शन ही नहीं होते। हम अपने सम्बन्धी, मित्र और अपने आपके दोषों को देख नहीं पाते। इसके प्रतिकूल दूर के व्यक्ति अथवा विरोधी पक्ष के दोष हमें बहुत ही बढ़े-चढ़े दिखाई देते हैं। राग-द्वेष की अवस्था में मनुष्य न तो दूसरों की और न अपनी सच्ची भलाई कर सकता है। उसका मनोबल आन्तरिक द्वंद्व में ही इतना घट जाता है कि वह कुछ भी कार्य ठीक से नहीं कर पाता।

अतएव अपनी मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने ही भावों से अपने आपको मुक्त करे। जिस व्यक्ति का मन अपने ही मनोभावों में फँसा है, वह दूसरे का भला कैसे कर सकता है। मनुष्य जितना ही अपनी इच्छा और भावों से मन को निकालता है और अपने ही प्रति साक्षी-भाव का अभ्यास करता है, वह उतना ही साम्यावस्था में रहता है। साम्यावस्था ही शक्ति धारण करनेवाली अवस्था है। जो व्यक्ति जितना ही इस अवस्था की ओर बढ़ता है, वह उतनी ही अधिक मानसिक शक्ति प्राप्त करता है।

मन को शान्त और स्वस्थ बनाने के लिये मैत्री-भावना का अभ्यास बड़ा ही उपयोगी है। किन्तु मैत्रीभावना के अभ्यास का अर्थ किसी व्यक्ति के मोह में पड़े रहना नहीं है। इसका अर्थ यही है कि जिन लोगों के प्रति हमारा सहज द्वेष-भाव है, उनके प्रति हम मैत्री-भाव का अभ्यास करें। इसी प्रकार जिन परिस्थितियों में हम बुराई देखते हैं, उनमें हम भलाई देखें। मानसिक रोगियों से मैत्री-भावना के अभ्यास कराने की नितान्त आवश्यकता होती है। इसका कारण मानसिक रोगियों में जगत और अपने प्रति प्रबल द्वेष-भाव की उपस्थिति है। वे संसार और अपने आपको सदा कोसते रहते हैं। ऐसे लोगों से मैत्री-भावना का अभ्यास कराना उनके रोग के विनाश के लिये आवश्यक है। इस प्रकार की मैत्रीभावना के अभ्यास से मनुष्य तटस्थ भाव की प्राप्ति करता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति बलवती होती है और उसकी सभी चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं—

डा० फ्रायड ने बताया है कि मानसिक चिकित्सा के समय हिस्टीरिया के रोगी का दमित प्रेम मानसिक चिकित्सक पर आरोपित हो जाता है। वह चिकित्सक को बहुत ही प्रबलता से प्यार करने लगता है। इस समय चिकित्सक को रोगी के प्रति तटस्थता का भाव रखना आवश्यक है। यदि चिकित्सक रोगी

को उसी प्रकार प्यार करने लगा जिस प्रकार रोगी चिकित्सक को प्यार करता है, तो स्वयं चिकित्सक मानसिक उलझन में पड़ जाता है और वह रोगी का उपकार करने की अपेक्षा अपनी शक्ति को खो देता है। रोगीको उस प्रेम की आवश्यकता नहीं है, जो मानसिक उलझन से उत्पन्न है। रोगीको निरपेक्ष प्रेम की आवश्यकता होती है। जब रोगी देख लेता है कि चिकित्सक का प्रेम वासनायुक्त है, तो जिस प्रकार दूसरे लोग वासनायुक्त प्रेम को महत्व नहीं देते उसी तरह मानसिक रोगी भी ऐसे प्रेम को महत्व नहीं देता। इस प्रकार के प्रेम से रोगी की श्रद्धा चिकित्सक खो देता है और श्रद्धा के खोने पर रोगी के विचारों पर चिकित्सक का नियंत्रण नहीं रहता।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य अपने जीवन में उतना ही सफल होता है, जितना वह संसार के लोगों, लौकिक घटनाओं और अपने भावों के प्रति तटस्थता के भाव का अभ्यास करता है। जो मनुष्य सदा दूसरे लोगों को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है और उनकी नाराजगी से डरा करता है, वह किसी व्यक्ति की भलाई करने में समर्थ नहीं होता है। वह अपने आपका भी भला नहीं कर पाता। उसकी मानसिक शक्ति व्यर्थ की चिन्ताओं में ही समाप्त होती रहती है।

तटस्थता के भाव के बिना न तो दूसरे लोगों पर कोई व्यक्ति अपना अनुशासन रखता है, और न वह एकाग्रचित्त होकर किसी काम को देर तक कर सकता है। उसमें वह मानसिक शक्ति ही नहीं रहती कि वह सचाई को देख सके और किसी निश्चय पर देर तक स्थिर रहे। जिस व्यक्ति के बारे में प्रसिद्ध हो जाता है कि वह विशेष पार्टी का मनुष्य है, उसका न तो विरोधी दल और न अपने ही दल पर विशेष प्रभाव रहता है। अपने दल का व्यक्ति उससे अनुचित लाभ उठाना चाहता है और जब उससे यह लाभ नहीं होता, तो वह उसका शत्रु बन जाता है। फिर वह उसके विरुद्ध षड़यन्त्र करता है। इसकी चिन्ता शासक को खा लेती है। फिर विरोधी व्यक्ति तो उसके गिराने में लगा ही रहता है। इस प्रकार तटस्थता का अभ्यास न रहने पर मनुष्य आत्म-विनाश कर लेता है। अतएव जगत और अपनी मनोवृत्तियों से जागरुक रहना मानसिक बल की रक्षा के लिये नितान्त आवश्यक है।—संपादक

———

मानसिक त्रास का आरोपण

मनुष्य दो प्रकार के दुःखों से पीड़ित होता है; एक बाहरी और दूसरा भीतरी। बाहरी दुःख गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, दूसरों के द्वारा मारे-पीटे जाने, गाली-गलौज, मान-अपमान तथा बहिष्कार के कारण होते हैं। फिर, मनुष्य को अनेक प्रकार के घातक जानवर साँप-बिच्छू, गोजर, चीता, भेड़िया, शेर आदि भी त्रास देते हैं। इस प्रकार के त्रास पाना सभी लोगों के लिये स्वाभाविक है। इन दुःखदायी पदार्थों से मनुष्य अपनी रक्षा करने की चेष्टा करता है और उसमें समर्थ भी होता। परन्तु जिन दुःखों से उसे अपने आपको बचाना बड़ा कठिन होता है, वह अपने मन के भीतर ही होता है। यह भीतरी दुःख जब तक कोई रूप धारण नहीं करता, तब तक वह मनुष्य को अत्यन्त त्रास देता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन दुःखी होता है। परन्तु वह नहीं जानता कि वह किस बात से दुःखी है। मन की इस प्रकार की दुःखी अवस्था की अभिव्यक्ति कभी-कभी इस भीतरी त्रास को किसी बाहरी पदार्थ पर आरोपण होकर होती है। आन्तरिक मन से दुःखी व्यक्ति जब अपने दुःख का कारण अपने से बाहर खोज लेता है, तो उसे एक बड़ा ही आत्म-संतोष प्राप्त होता है। कल्पित बाहरी त्रास-दाता से मनुष्य उसी प्रकार से लड़ने की चेष्टा कर सकता है, जिस प्रकार वह वास्तविक त्रास-दाता से लड़ते रहा है। यदि त्रासदाता अरूपवान ही रहे अथवा हमारे ही भीतर कहीं समाहित रहे, तो हम उससे कैसे लड़ सकते हैं ?

हिस्टीरिया के रोग में आन्तरिक त्रास की भावना का आरोपण बड़े विलक्षण रूप में देखा जाता है। दूसरे मानसिक रोगों में हमारे मन का त्रास किसी वास्तविक वस्तु पर आरोपित होता है। उदाहरणार्थ-हाईपोकैन्ड्रिया में मनुष्य पेट के किसी रोग की कल्पना करता है। फोबिया (अकारण भय) में मनुष्य अपने आन्तरिक भय को कीड़ा-मकोड़ा या साँप-छछून्दर आदिपर आरोपित करता है। इसी तरह कुछ दूसरे रोगों में मनुष्य सोचता है कि उसके आस-पास रहने वाले सभी लोग उसके दुश्मन हैं। वह कभी-कभी अपने आफिसर को अपना शत्रु मान बैठता है और वह सोचता है कि उसने उसके संबंधियों को मिला लिया है तथा उनसे गुप्तचरों का काम ले रहा है। इससे पृथक हिस्ट्रीया के रोग में आरोपण होता है। यहाँ कोई वास्तविक पदार्थ रोगी की चेतना के समक्ष नहीं रहता। अतएव मानसिक त्रास किसी सुने-सुनाये पदार्थ पर आरोपित होता है। कभी-कभी यह त्रास की भावना भूत अथवा प्रेत पर आरोपित हो जाती है। उस

समय रोगी कहता है कि मुझे अमुक स्थान का भूत सता रहा है।

एक बार लेखक बम्बई से बनारस आ रहा था। ट्रेन में फैजाबाद जिले का एक प्रौढ़ व्यक्ति भी बैठा हुआ था। वह अपने किसी साथी के साथ नहीं था। गाड़ी में कुछ भीड़ होने के कारण गर्मी बढ़ गई। इसी बीच इस व्यक्ति का दिमाग बिगड़ गया। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा कि देखो भाई मेरे ऊपर टोना किया जा रहा है। मुझे कोई बाण मार रहा है। कुछ देर बाद वह बहुत घबड़ाया तथा वह रेल की खिड़की से कूदकर भागने लगा। पास में बैठे हुए लोगों ने उसे बड़ी कठिनाई से गिरने से बचाया। जो उसे गिरने से बचा रहे थे, उन्हें वह अपना शत्रु जानकर पीटने की चेष्टा कर रहा था। ट्रेन ५० मील की रफ्तार से भाग रही थी। यदि वह ट्रेन से गिरता, तो अवश्य ही मर जाता। ट्रेन के १०-१५ आदमियों ने उसे बाँधकर रखा। फिर वह आधा घंटे बाद होश में आ गया। जो कुछ बातें हुईं उसे उसने एक कहानी के रूप में सुना। उसने उसकी जान बचानेवालों के प्रति आभार प्रकट किया।

एक दूसरी घटना में एक महिला पेशाब करते समय यह अनुभव करने लगी कि एक दूसरी कोई अपरिचित महिला वहाँ बैठी है। वह उसे पेशाब घर में बैठी देखकर डर गई। वहाँ से उसने भागने की कोशिश की। इस अपरिचित महिला ने उसकी साड़ी पकड़ ली। फिर तो वह सामने की चीज भी न देख सकी और बाहर की ढेंकी पर गिर पड़ी। वह बेहोश रही। जब उसने बोलना शुरू किया, तो उसके शरीर से दूसरा ही व्यक्तित्व बोलने लगा। पड़ोस के घर की एक महिला कुछ वर्ष पूर्व मर गई थी। इसी महिला का भूत अब इस स्त्री के शरीर में समा गया था और अब इस महिला को त्रास दे रहा था। इस भूत को संतुष्ट करने से वह फिर शान्त हो गई।

अभी हाल में ही एक नव युवक, जिसका विवाह एक सप्ताह पूर्व हुआ था, अपनी स्त्री की हिस्टीरिया के रोग की खबर लेकर आया। विवाह के पूर्व इस लड़की को कोई रोग नहीं था। रोग का प्रारम्भ उसी दिन हुआ, जिस दिन उक्त लड़के के साथ लड़की का सबन्ध होना तय हुआ। यह लड़की अब अचानक हँसने लगती है, डरावनी आँखों से घूरती है तथा कुछ काम कहने पर भी नहीं करती। उसे जब उठाया-बैठाया तथा जब शौच को भेजा जाता है, तभी उठती-बैठती तथा शौच जाती है। देहात के लोग कहते हैं कि किसी डाईन भूत लगा दिया है।

उपर्युक्त उदाहरणों में जो बातें हम पाते हैं, वे मनुष्य के सामान्य व्यक्तित्व

को त्रास देनेवाली भावनाओं के परिणाम हैं। मनुष्य के मन में ऐसी बहुत सी वासनायें रहती हैं, जिनकी आत्म-स्वीकृति वह नहीं करना चाहता। ये वासनायें दमित होकर जब बहुत प्रबल हो जाती हैं, तो वे किसी-न-किसी प्रकार चेतन मन के समक्ष त्रास देनेवाले पदार्थों के रूप में सामने आ जाती हैं। वास्तव में जब ये मनुष्य के भीतरी मन में ही रहती हैं, तब भी उसके अनजाने त्रास देती रहती हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य को अनिद्रा, अकारण चिन्ता और मानसिक बेचैनी तथा संसार में सूनापन दिखाई देने लगता है। इस प्रकार की मनोस्थिति का अर्थ है कि व्यक्ति के मन में उसके अनजाने ही मानसिक संघर्ष चल रहा है। मानसिक संघर्ष के कारण उसकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है और उसके द्वारा बहुत सी भूलें होने लगती हैं। यही मानसिक संघर्ष जब चेतना के समक्ष आता है, तो वह किसी कल्पित शत्रु के झगड़े का रूप ले लेता है। जो भूत किसी हिस्टिरीया के रोगी को त्रास देता है, वह वास्तव में उसके मन के बाहर नहीं, अपितु उसके आन्तरिक मन में उपस्थित रहता है। यह भूत रोगी की वह प्रबल वासना है, जिसकी सन्तुष्टि वातावरण अथवा रोगी की नैतिक बुद्धि के कारण नहीं हुई हो। इस वासना की स्वीकृति भी रोगी नहीं करना चाहता। उसे वह बड़ा ही अभद्र पिशाच के रूप में देखता है। फिर, यही वासना उसी रूप में बाहर से कल्पित भूत-प्रेत के रूप में परिणित होकर व्यक्ति को त्रास देती है। यह त्रास कभी इतना बढ़ जाता है कि मनुष्य अपनी चेतना ही खो देता है तथा ऐसी अवस्था में वह भूत उस समय के लिए उस व्यक्ति का शरीर अपने काम में ले आता है। फिर वह ऐसी कुछ बातें करने लगता है, जिससे कि सामान्य व्यक्तित्व सवर्था अपरिचित रहता है। मनुष्य की असाधारण अवस्था में उपस्थित यह भूत उसकी दमित वासना ही है। जब इस वासना को अपने प्रकाशन का पर्याप्त अवसर मिल जाता है, तब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है तथा फिर वह मनुष्य के सामान्य व्यक्तित्व से मिल जाती है।

कभी-कभी ये तथा कथित भूत झाड़ने-फूँकने से तथा कुछ मनौती मानने से कुछ समय के लिये शान्त हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की शान्ति बहुत दिनों तक नहीं ठहरती। भूत समय-समय पर कुछ-न-कुछ मनौती माँगते रहता है। इस मनौती को मान लेने से वासना की संतुष्टि प्रतीक रूप से होती है। किन्तु जब तक वासना को सच्चा संतोष नहीं मिलता, तब तक मूल रोग नहीं जाता। हिस्टीरिया का रोग उन्हीं महिलाओं को होता है, जिन्हें अपने पति का पूरा प्रेम नहीं मिलता तथा जिन्हें उनकी मनोभावना के अनुसार पति नहीं मिलता। उनकी

अतृप्त मनोभावना अपने प्रकाशन का कोई सीधा रास्ता न देखकर किसी टेढ़े-मेढ़े मार्ग से भूत-प्रेत की कल्पनाओं पर आरोपित होकर प्रकाशित होती है। यहाँ बाहर से देखने से तो कोई बाह्य पदार्थ रोगी को त्रास देता है, परन्तु वास्तव में उसकी अन्तरात्मा ही उसे त्रास देती है।

कभी-कभी मनुष्य के आन्तरिक मन का त्रास किसी बाहरी नगण्य वस्तु पर आरोपित होकर प्रकट होता है। एक महिला अपनी बाईं आँख की ओर सदा एक शैतान खड़ा देखती थी। जब भी वह तिरछी नजर से बाईं तरफ देखती, तो उसे ज्ञात होता था कि बड़ा ही अभद्र रूप का शैतान उसकी बाजू में खड़ा है। वह शैतान उस समय गायब हो जाता था, जब वह उस शैतान की ओर अपना मुँह करके उसे देखने की कोशिश करती थी। शैतान से बचने के लिये वह प्रति दिन बाईबिल पढ़ती, चर्च में जाती, उपवास करती तथा पादरियों के उपदेश सुना करती थी। परन्तु वह शैतान उसे छोड़ता ही नहीं था। यह किस्सा किसी डाक्टर ने सुना। उसने जब महिला की आँखों की परीक्षा की, तो उसके उपतारे में ऐसा दोष मिला कि उसके कारण नजर को तिरछी करके देखने से उसे एक भयानक रूप दिखाई देता था। इस भयानक रोग को उसकी कल्पना ने शैतान का बाना पहना दिया। जब उसकी आँख का दोष नष्ट हो गया, तो उक्त महिला का शैतान को देखना भी बन्द हो गया।

यहाँ डाक्टर महिला के बाह्य त्रास को मिटा सका, किन्तु उसके मन में उपस्थित त्रास इस प्रकार नहीं गया। वह अब दूसरी वस्तुओं पर आरोपित होने लगा। जब अपने आपको झूठे त्रास देनेवाले व्यक्तियों के त्रास देनेवाले एक कारण को हटा दिया जाता है, तो उसके आत्म-त्रास की भावना किसी अन्य वस्तु पर आरोपित हो जाती है। इस प्रकार कितने ही लोग भूत-प्रेत से न डरकर ग्रह-नक्षत्र की प्रतिकूलता से डरने लगते हैं। उन्हें बात-बात में अपशकुन दृष्टिगोचर होते हैं। लेखक के एक शिष्य की ओर जो कोई व्यक्ति देखता था, उसे वह अपने आपको चोर पहचानने की चेष्टा करनेवाला व्यक्ति मानता था। किसी पुलिस के दारोगा अथवा सिपाही को देखकर तो उसके प्राण सूख जाते थे। उसने अपने होस्टल में हुई चोरी को अपने ही ऊपर आरोपित कर लिया तथा सोचने लगा कि सभी लोग उसे चोर समझते हैं। वास्तव में उसने यह चोरी नहीं की थी, परन्तु उसका आन्तरिक मन उसे दूसरे प्रकार की चोरी के लिये त्रास देता था। अपने एक मित्र की स्त्री के साथ उसने अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल व्यभिचार किया था। वह इस घटना को भूल चुका था। परन्तु इस विस्मरण से उसके अन्तर्मन के संस्कार और भी प्रबल

हो गए थे, जिससे उसकी अन्तरात्मा की भावना बाह्य पदार्थों पर आरोपित होकर प्रकट होती थी।

मनुष्य की दमित वासनाएँ ही, जिन्हें वह पहचानना भी नहीं चाहता, बाह्य व्यक्ति अथवा वस्तु पर आरोपित होकर उसे नाना प्रकार के कष्ट दिया करती हैं। हम दूसरों की उन्हीं बातों की निन्दा करते हैं, जिनकी उपस्थिति हम अपने में नहीं दिखाना चाहते। जो लोग सामाजिक कुरीतियों या भ्रष्टाचारों के कारण सदा त्रस्त रहते और उनके निवारणार्थ उग्र भाषण किया करते हैं, वे अपनी दमित वासनाओं से ही त्रस्त रहते हैं और दुराचारियों के प्रति किया गया आक्षेप उनका व्यक्तिगत आक्षेप ही होता है। हमारा अचेतन मन जिन कर्मों की ओर प्रवृत्त है, उन्हीं कर्मों को हम समाज में बुरा सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। हम दूसरों के उन्हीं दोषों की निन्दा करते हैं, जो हमारे अन्तर के किसी गुप्त प्रदेश में छिपे पड़े रहते हैं। इस प्रकार जब हम प्रकट रूप से किसी व्यक्ति के दोषों पर विवेचन करते हैं, तो गुप्त रूप से अपनी कमजोरियों को ही व्यक्त करते हैं।

एक महिला अपनी लड़की के व्यवहार से अत्यन्त ही त्रस्त रहती थी। वह लड़की कालेज की छात्रा थी और बड़े ही फैशन से रहती तथा निर्भीक रूप से सहपाठी युवकों से मिला करती थी। यद्यपि वह दूषित चरित्र की नहीं थी, फिर भी उसका व्यवहार उसकी माता के लिए बड़ा ही क्लेशकर हो गया था। अस्तु वह अपनी लड़की पर नाना प्रकार के लाञ्छण लगाती और उसे डाँटा-फटकारा करती थी।

वास्तव में महिला अपनी लड़की से नहीं, बल्कि अपनी ही वासनाओं से त्रस्त थी। विवाह के पूर्व वह स्वच्छन्दता का जीवन व्यतीत कर चुकी थी, परन्तु विवाहोपरान्त उसे कठोर नैतिकता बरतनी पड़ी। अन्तर्मन से वह अपनी लड़की के प्रति ईर्ष्यालु थी, क्योंकि वह स्वयं उन युवकों से मिलना चाहती थी। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को त्रास देनेवाली वस्तुएँ उसके बाहर नहीं अपितु उसके भीतर ही होती हैं और ये किसी प्रकार की विस्मृत वासनीमयी वृतियाँ अथवा अनुचित कार्य ही होते हैं। —संपादक

———

अन्तर्द्वन्द्व

द्वन्द्व का अर्थ होता है झगड़ा। दो व्यक्तियों अथवा दो दलों के सक्रिय विरोध को द्वन्द्व कहते हैं। परन्तु अन्तर्द्वन्द्व बाह्य जगत का नहीं, अपितु मनो-जगत का झगड़ा है—मानसिक संघर्ष है। मनुष्य के मन में जब दो परस्पर विरोधी विचारों का उद्भव होता है, तो अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विचारों और क्रियाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध है; अर्थात् विचार क्रिया का जनक होता है। अस्तु जब मस्तिष्क में दो विरोधी विचार उत्पात मचाते हैं, तो व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्रिया किस विचार के अनुकूल हो। मनुष्य के मन में निरंतर विचारों और कल्पनाओं का तूफान चलता ही रहता है। विरोधी विचार के अभाव में ही कोई विचार कार्य-रूप में परिणत होता है। विचारों की शक्ति को नष्ट करनेवाले उस विचार के विरोधी विचार ही होते हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए मनुष्य नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है; और जब इन कल्पनाओं अथवा भावों की पूर्त्ति में किसी प्रकार का विरोध होता है, तो फिर मानसिक द्वन्द्व का श्रीगणेश होता है।

अन्तर्द्वन्द्व के कारण—इच्छाओं की पूर्त्ति में किसी प्रकार की बाधा की उपस्थिति ही अन्तर्द्वंद्व या मानसिक संघर्ष का मूल कारण है। सामान्यतः ये बाधाएँ तीन प्रकार की होती हैं; परिस्थितिगत, व्यक्तिगत और विरोधी विचार-जन्य।

परिस्थितिगत बाधा—मनुष्य की इच्छाओं के पूर्तिकरणमें परिस्थितियाँ भी बाधा पहुँचाती हैं। सामाजिक और शासकीय नियम भी परिस्थितियों के अन्तर्गत हैं। मान लीजिए कि किसी उच्चकुल के ब्राह्मण युवक का प्रेम किसी निम्नकुल की युवती से हो गया। अब ऐसी स्थिति में युवती के प्रति युवक का प्रबल भावात्मक आकर्षण होगा और सानिध्य की उत्कट लालसा से प्रेरित होकर वह उक्त युवती से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करना चाहेगा। परन्तु उसके इस कार्य में समाज की वर्ण-व्यवस्था और कुल-मर्यादा के रक्षक उसके माता-पिता बाधा डालेंगे। स्वयं युवक की नैतिक बुद्धि भी उसे इस कृत्य के लिए धिक्कारेगी। इस प्रकार माता-पिता और समाज के प्रति कर्तव्य अर्थात् नैतिकता और भावना-ग्रन्थि अर्थात् सुखात्मक इच्छाओं का संघर्ष आरम्भ हो जाता है; जिससे अन्त-र्द्वन्द्व से ग्रसित व्यक्ति घोर मानसिक क्लेश की अनुभूति करता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने शत्रु की हत्या करना चाहता है, परन्तु पुलिस की उप-

स्थिति के कारण अपनी इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ होता है, तो उसमें अन्तद्वंन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। एक युवक इसीलिए प्रबल अन्तर्द्वन्द्व का शिकार हो गया था, क्योंकि उसके माता-पिता उच्चशिक्षा पाने के लिए उसके विलायत जाने की इच्छा के विरोधी थे। इस प्रकार परिस्थिति जब मनुष्य के भावों का विरोधी हो जाती है, तो मनुष्य में मानसिक संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है।

व्यक्तिगत बाधा—अभिलाषाओं की पूर्ति में व्यक्तिगत बाधा मनुष्य की शारीरिक बनावट, बौद्धिक कमी या अन्य किसी प्रकार की वैयक्तिक असमर्थता ही होती है। किसी सुन्दरी युवती का प्रेम-पात्र होने में यदि किसी युवक की कुरूपता बाधा डालती है, तो उसकी कुरूपता ही उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण बनेगी। उसी प्रकार अनाकर्षक होने के कारण असुन्दर अथवा अविकसित अवयव की युवतियाँ भी मानसिक द्वन्द्व से ग्रसित रहती हैं। मनोविज्ञानशाला में ऐसे अनेकों युवक-युवतियों के पत्र आते हैं, जिनके मानसिक क्लेशों का कारण उनकी वैयक्तिक कमी ही हुआ करती है। हाल ही में एक युवती ने अपनी दुःखद मानसिक अवस्था का विवरण लिखा है। प्रर्याप्त वयसी होने पर भी उसके वक्षः-सौन्दर्य का विकास नहीं हुआ, यही उसकी उत्कट मनोव्यथा का मूल कारण है। साधारणतः सभी युवतियाँ अपने को आकर्षक बना युवक-वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा रखती हैं; परन्तु उनकी इस इच्छा की पूर्ति में जब किसी प्रकार की वैयक्तिक कमी बाधा डालती है, तो वह वैयक्तिक कमी ही मानसिक संघर्ष का कारण बन जाती है। अपनी शक्ति और योग्यता का अनुमान किए बिना ही बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षाओं का पालन करना भी मानसिक संघर्ष को निमंत्रित करना है। उत्युच्च सरकारी पद की आशा में विश्वविद्यालयों की लम्बी-चौड़ी डिग्रियाँ प्राप्त करने के बाद जब वर्तमान युवक-समाज को व्यावहारिक क्षेत्र अर्थात् वास्तविक जगत में अपनी अयोग्यता का ज्ञान होता है, तो उनकी स्थिति दयनीय हो जाती है। अपने को प्रखर बुद्धि का छात्र समझनेवाले विद्यार्थी जब परीक्षा में विशेष स्थान नहीं प्राप्त करते अथवा अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, तो उन्हें मानसिक व्यथा का सामना करना पड़ता है। उसी प्रकार सैनिक जीवन के प्रति तीव्र रुचि रखनेवाला तरुण यदि शरीर की लम्बाई अथवा सीने की चौड़ाई की कमी के कारण रंगरूट न चुना जाए, तो उसकी शारीरिक बनावट ही उसके मनो-द्वन्द का कारण बनेगी।

विरोधी विचार-जन्य बाधा—अन्य प्रकार के अन्तद्वंन्दों की अपेक्षा विरोधी विचार-जन्य अन्तद्वंन्द अधिक भयानक होते हैं और मानसिक स्वास्थ्य पर इनका

गहरा प्रभाव भी पड़ता है। मनुष्य की प्रवृति और उसके व्यक्तित्व अर्थात् उसकी स्वाभाविक इच्छा और नैतिकता या विवेक में निरंतर संघर्ष होता ही रहता है। मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति और उसके विवेक अथवा 'अहं' में विरोध का होना अनिवार्य है। इस प्रकार भावात्मक और ज्ञानात्मक प्रवृति और विचारों के संघर्ष से मनोजगत में उथल-पुथल मच जाता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियां पाशविक होती हैं। समाज उन्हें कुदृष्टि से देखता है, कारण समाज को सुव्यस्थित और सुगठित बनाए रखने के लिए नैतिकता और विवेक की आवश्यकता है। अतएव समाज में सम्मान प्राप्त करने तथा अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए मनुष्य को नैतिकता अथवा विवेकशीलता का चोगा धारण करना ही पड़ता है। इस प्रकार समाज में उच्च पद प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दमित करने की चेष्टा करता है। परन्तु मूल प्रवृतियाँ दमित होकर रहनेवाली नहीं हैं। अतः वे प्रायः मनुष्य की चेतना में प्रकट हो उसकी नैतिकता को डाँवाडोल करने में संलग्न हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में अपने व्यक्तित्व अथवा प्रतिष्ठा का अभिमानी मनुष्य भीषण मानसिक द्वन्द्व की अनुभूति करता है। मनोविज्ञानशाला में आने के पूर्व एक युवक स्वामीजी की मानसिक अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय थी। एक आश्रम के अध्यक्ष होने के कारण इन्हें सामाजिक सम्मान प्राप्त था। लोग उनकी नैतिकता और सच्चरित्रता की प्रशंसा करते थे। फलतः स्वामीजी भी अपने आचरण में किसी प्रकार की अनैतिकता नहीं आने देते। परन्तु उनके अन्तर्जगत में सर्वथा द्वन्द्व छिड़ा रहता था। वे लाख प्रयत्न करते, पर उनकी दृष्टि आश्रम में आनेवाली स्त्रियों के स्तनों और गुप्तांगों की ओर चली ही जाती। इस प्रकार नैतिकता को रक्षा और परिणाम के भय ने उन्हें इस विचार को हटाने की प्रेरणा दी, जिससे स्वामीजी का मस्तिष्क दो प्रबल विरोधी विचारों का अखाड़ा हो गया। जो व्यक्ति जितना ही अधिक नैतिक और साधु-प्रकृति का होता है, उसे उतने ही अधिक अन्तर्द्वन्द्वों का शिकार भी होना पड़ता है। किसी व्यसनी चोर को चोरी करते समय अन्तर्द्वन्द्व का शिकार नहीं होना पड़ता। परन्तु जब कोई शिष्ट कुल का व्यक्ति विवशता-वश कभी चोरी करने निकलता है, तो उसके मनमें-दो विरोधी विचारों का तुमुल संघर्ष होता है। उसकी नैतिकता उसके इस कृत्य के लिए उसे धिक्कारती और उसके पावों में बेड़ियाँ जकड़ देती है; परन्तु उसकी प्रवृत्ति, उदर की क्षुधा अथवा स्त्री-बच्चों का म्रियमान चेहरा, उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती तथा उसके कुकृत्य का दोषारोपण समाज अथवा परिस्थिति पर करती है। इस प्रकार दो विरोधी विचारों से ग्रस्त व्यक्ति कभी आगे बढ़ता और कभी पीछे हटता अथवा

किंकर्तव्यविमूढ़-सा निश्चेष्ट खड़ा रहता है।

इसी प्रकार अत्यन्त ही सम्पन्नकुल की एक सुन्दरी और सुशिक्षित युवती दो युवकों के प्रति आकृष्ट थी। उनमें एक संभ्रान्त कुलका सुन्दर और स्वस्थ युवक था, परन्तु वह पढ़ने-लिखने में उतना तेज अथवा अनिन्द्य चरित्र का नहीं था। दूसरा बड़ा ही अध्ययनशील, सचरित्र और उदात्त विचारों का था; परन्तु वह निर्धन परिवार का बालक था और अधिक रूपवान भी नहीं था। युवती दोनों को चाहती, दोनों से मिलती और दोनों से एकान्त में घंटों बातचीत करती थी। धनी युवक उसके रूप की प्रशंसा करता और उसके सामने वैभव और भौतिक सौन्दर्य का आकर्षण उपस्थित करता; परन्तु उसके विपरीत शीलवान निर्धन युवक उसके शील और विद्वता की प्रशंसा करता तथा उसे आध्यात्मिक और शाश्वत सौन्दर्य का संदेश सुनाता था। परिणामतः वह दोनों से प्रभावित होती थी, क्योंकि एक में उसे शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति दीखती थी, तो दूसरे में उसे आध्यात्मिक आनन्दका स्वरूप भी दीखता था। एक ओर भाव का प्राबल्य था, तो दूसरी ओर विचारों का। अपनी इस द्विविधात्मक मनोवृत्ति से वह स्वयं तो मानसिक संघर्ष में थी ही, परन्तु उसने अपने अभिभावकों को भी परेशान कर रक्खा था। अन्त में द्वन्द्वात्मक विचार से मुक्ति पाने के लिए उक्त युवती को एक मनोवैज्ञानिक का सहारा लेना पड़ा। विचारों की यह द्वन्द्वात्मक स्थिति बड़ी ही दुःखद होती है। हमारे एक मित्र की परिवारिक स्थिति बिगड़ गई थी। अतः वे निरंतर इसी मानसिक उलझन में पड़े रहते कि उन्हें अपना अध्ययन जारी रखना चाहिए अथवा नौकरी करके परिवार की सहायता करनी चाहिए। माता-पिता उनकी पढ़ाई के लिए रुपये नहीं भेजते थे और वे चाहते भी थे कि लड़का नौकरी कर ले। स्वयं मित्र महाशय भी ऐसे समय परिवार की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते थे; परन्तु अध्ययन के साथ भावात्मक सम्बन्ध होने के कारण वे उसे भी छोड़ना नही चाहते थे। अन्त में विवशता-वश उन्होंने पढ़ाई तो छोड़ दी, पर इससे उनकी मानसिक स्थिति अत्यन्त ही दुःखद हो गई है और अब जीवन के प्रति उनमें कोई रुचि ही नहीं रह गई है। वे घोर निराशावादी हो गए हैं। इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व के अनुचित निराकरण से मानसिक स्वास्थ्य को बड़ी ही हानि पहुँचती है।

अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक रोग—प्रायः सभी प्रकार के मानसिक रोगों की सृष्टि अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही होती है; और अन्तर्द्वन्द इच्छाओं के कारण होता है। अतएव मनुष्य की इच्छा ही उसके रोग का कारण बन जाती है। मानसिक रोग का कारण निश्चित करते हुए चरक ने भी कहा है कि इच्छित वस्तु की अप्राप्ति

और अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति से मानसिक रोग होता है।* काश्यप ने भी 'सत्वेतरं च द्वन्द्वं च मानसामय हेतवः' कह इस बात की पुष्टि की है कि मानसिक द्वंद्व का कारण रजो और तमोगुण अर्थात् वासनामयी इच्छाएँ ही होती हैं। सतोगुणी अर्थात् उदार हृदय के व्यक्ति कभी भी मानसिक रोग के शिकार नहीं होते।

जिस युवती को अपने में शारीरिक सौन्दर्य की कमी की अनुभूति होती है, वह नाना प्रकार के प्रसाधन और वेश-भूषा-द्वारा अपने को आकर्षक बनाने की चेष्टा करती है अथवा साहित्य, संगीत या किसी कला - विशेष में पारंगत हो समाज में अपने लिये विशेष स्थान बना लेती है। इसके अभाव में वह पुरुष-वर्ग के प्रति उदासीनता के भाव का पोषण करती है और उसके चेतन मन में यह विचार रहता है कि पुरुषों के प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं है। वास्तव में उनके अचेतन मन में विषमलिंगी की ओर प्रबल आकर्षण रहता है; परन्तु अपनी कमी के कारण उनमें वह शक्ति नहीं रहती। अतएव उन्हें मानसिक द्वन्द से बचाने के लिए उनका सुसत्व उनके अनजाने ही उस इच्छा को दमित कर देता है, जिससे पुरुषवर्ग के प्रति उदासीनता दिखा वे आत्मसन्तोष प्राप्त कर लेती हैं।

घोर अन्तर्द्वन्द की स्थिति में मनुष्य आत्महत्या कर भी लेता है। आकांक्षाओं की अपूर्ति अथवा अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति मनुष्य को आत्महत्या की ओर भी प्रेरित करती है। बहुत से युवक-युवतियाँ इसलिए आत्म-हत्या कर डालते हैं, क्योंकि उनके प्रेम-विवाह में उनके माता-पिता बाधक होते हैं। प्रेमिका-द्वारा तिरस्कृत होनेवाले व्यक्ति कभी-कभी साधु-संत या महान विद्वान हो जाते हैं। इच्छाओं के दमन से मनुष्य के जीवन में असाधारणता आ जाती है। इस दमन का आधिक्य पागलपन का कारण भी बन जाता है।

—किरीट भूषण मिश्र

———

* मानसः पुनरिष्टस्यालाभालाच्चानिष्टस्योपजायते।

अवसरवाद के मानसिक दुष्परिणाम

किसी अच्छे या बुरे साधन का उपयोग करके अपना उल्लू सीधा कर लेना ही अवसरवादिता है। कार्य में सफलता मिलनी चाहिये, चाहे उसके लिये कोई भी बुरा-से-बुरा साधन अपनाना पड़े, तो कोई हानि नहीं है। ध्येय प्रधान है, उसकी पूर्ति होना आवश्यक है, साधन गौण है—उसके विषय में अच्छे बुरे का विचार निरर्थक है। उद्देश्य-पूर्ति ही लक्ष्य है, उसके लिये जब जैसा अवसर आए उसके अनुसार अपने आपको परिवर्तित करते रहना, प्रत्येक अवसर का उपयोग अपने ध्येय-पूर्ति के लिये कर लेना बुद्धिमानी है। 'जैसी चले बयार, पीठ पुनि तैसी कीजै' वाली मनोवृत्ति ही अवसरवादिता का स्वरूप है।

परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको परिवर्तित करते रहना और प्राप्त अवसरों का लाभ उठा कर अपने ध्येय की पूर्ति करना अवसरवादिता है। इस दृष्टि से यदि हम चाणक्य और भगवान कृष्ण आदि व्यक्तियों को भी देखें, तो वे भी अवसरवादी ही प्रतीत होंगे। चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' नामक नीति-ग्रन्थ में ध्येय को ही महत्वपूर्ण बताया है और साधन को गौण माना है। लक्ष्य अथवा उद्देश्य का उच्च होना आवश्यक है। उसके लिये यदि हमें बुरे अथवा निम्न समझे जानेवाले साधन भी उपयोग में लाने पड़े, तो कोई हानि नहीं। यही उसने अपने जीवन में भी चरितार्थ किया। चन्द्रगुप्त, जो योग्य, चरित्रवान और वीर व्यक्ति था, को राज्य सिंहासन पर बैठाने और पतित नंद-वंश को नष्ट करने के लिये उसने अच्छे-बुरे सभी प्रकार के साधनों का उपयोग किया। कृष्ण के जीवन में भी यही देखा जा सकता है। वे कई बार झूठ बोले, उन्होंने अपने कई शत्रुओं को धोखा देकर मार डाला, और युद्ध में प्रबल शत्रु के सामने से कई बार नौ-दो-ग्यारह हो गये।

पर ऐसे पुरुषों को अवसरवादी मानना अथवा सिद्ध करना भारी भूल होगी। कृष्ण और चाणक्य का ध्येय अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त करना अवश्य था, पर स्वार्थ-पूर्ति नहीं। वे समाज को दुष्ट और आततायियों के पंजे से मुक्त करना चाहते थे, अपने स्वार्थों की पूर्ति नहीं। उनके अन्तःकरण में सम्पूर्ण-समाज की कल्याण-भावना थी और उसके लिये वे किसी भी प्रकार का त्याग करने को तैयार रहते थे। वे किसी विशेष प्रकार के वाद में पड़कर अपने आपको मूर्ख और असफल नहीं बनाना चाहते थे। युधिष्ठिर जैसी प्रवृत्ति के लोग व्यावहारिक दृष्टि से असफल होते हैं, दुष्ट और चतुर लोग ऐसे लोगों की सरलता का लाभ उठाकर उन्हें मूर्ख बनाते रहते हैं। हमारे यहाँ भी यदि

गाँधीवाद पूर्ण रूप से चल जाता, तो हमारी वही दशा होती जो कृष्ण के बिना युधिष्ठिर की आज्ञा के अधीन पाण्डवों की हुई होती। कोई भी कार्य अथवा साधन स्वयं अपने में अच्छा-बुरा नहीं हुआ करता है। उसका ध्येय, जिससे वह प्रेरित होता है, ही उसे अच्छा अथवा बुरा बनाता है। यदि कृष्ण और चाणक्य जैसे व्यक्तियों को अवसरवादी कहा जा सकता है, तो इस प्रकार का अवसरवादी होना वांछनीय है, हेय नहीं।

पर यदि हम वास्तविक रूप से देखें, तो क्या अवसरवाद का यही अर्थ है? जिसे हम अवसरवादी कहते अथवा समझते हैं, वह क्या कृष्ण अथवा चाणक्य जैसा व्यक्ति होता है? नहीं। हम सांसारिक, चतुर और व्यवहार-कुशल व्यक्ति को अवसरवादी कहते हैं। ऐसे लोग व्यक्तिगत स्वार्थोंके लिये ही सब ऊँच-नीच किया करते हैं। उनका उद्देश्य समाज का कल्याण नहीं, येन-केन-प्रकारेण अपनी स्वार्थ-पूर्ति करना होता है। उनका ध्येय भौतिक मूल्य धन, पद, भोग-विलास के साधन आदि हैं। वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं और ये इच्छायें भौतिक-सुख-संबंधी रहती हैं। इन अवसरवादियों में और कृष्ण और चाणक्य जैसे व्यक्तियोंमें महान अन्तर होता है। एक का ध्येय तो भौतिक सुख-भोग ही है और दूसरे का समाज का कल्याण और हृदय-शुद्धि। अवसरवादी लोग भोग-परायण होते हैं और हृदय की शुद्धि और समाज का कल्याण चाहनेवाले लोग योगी होते हैं।

यदि हम अवसरवाद को भोगवाद कह दें, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। भोग ध्येय है और अवसरवाद उसको प्राप्त करनेके साधनों पर प्रकाश डालता है। जिस-किसी प्रकार से भी भौतिक सुखों को प्राप्त करना ही अवसरवादका लक्ष्य है। आजकल इस भोगवादी और अवसरवादी मनोवृत्तिकी एक लहर-सी दौड़ गई है। प्रायः सभी देशों में इसी प्रकार की मनोवृत्ति की प्रधानता है। अमेरिका ने तो इसी को जीवन का मूल्य समझ लिया है। वहाँ की संपूर्ण विचार-परम्परा ही इससे ओतप्रोत है। प्रेगमेटिज्म इसी प्रकार की विचारधारा का परिणाम है।

अवसरवादी अथवा भोगवादी व्यक्तियों के लिये कोई विचार अथवा सिद्धान्त अन्तिम सत्य नहीं हुआ करता है। उनके अनुसार जिससे काम चल जाय, वही विचार सत्य है। यदि दूसरे अवसर पर उस प्रकार के विचार से हमारा प्रयोजन सिद्ध न हो, तो जो हमें सफलता प्रदान करने में सहायता करे इस प्रकार का दूसरा सिद्धान्त अपनाना चाहिये। यह प्रयोजन, जैसा कि हम कह चुके हैं, भौतिक सुखों की प्राप्ति है। इस प्रकार की विचार-परंपरा के दर्शन, नैतिकता और धर्म सभी काम चलाऊ हुआ करते हैं। दर्शन, नैतिकता और

धर्मका भी स्वयं अपने आपमें कोई मूल्य नहीं है। वे स्वयं मूल्यवान नहीं हैं, वरन् हमारी इच्छाओं की पूर्ति के साधन अथवा साधनों को जुटाने में सहायक हैं, इसीलिये उनका महत्व है। दर्शन सत्य की निष्पक्ष खोज नहीं है। हमारी इच्छा-पूर्ति के साधन ही सत्य हैं और उनकी अधिकाधिक प्राप्ति के लिये जो सिद्धान्त हमें लाभदायक हों, वही सिद्धान्त सच्चे दर्शन का निर्माण करते हैं। नैतिक मूल्य भी सापेक्ष हैं, नैतिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं रखती। वरन् नैतिकता को माने बिना किसी समाज की स्थिति संभव नहीं है, जिसके अभावमें इच्छाओंकी पूर्ति भी संभव नहीं है। अतएव चरित्र स्वयं मूल्यवान वस्तु है यह बात नहीं, वरन् वह इसलिये मूल्यवान है कि समाज में चरित्रवान व्यक्ति का आदर होता है, उच्च पदों की प्राप्ति संभव है, आदि। धर्म की भी यही अवस्था है। धर्म इसलिये अच्छा है कि इससे समाज के बहुत से अपढ़ और अन्धविश्वासी लोगों के हृदय को एक सहारा मिलता है। ईश्वर है अथवा नहीं है, इससे मतलब नहीं। पर कुछ लोगोंको ईश्वर में विश्वास करने से संतोष रहता है। संसार में बहुत-सी दुःखात्मक घटनायें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में हुआ करती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण और दृढ़ इच्छा-शक्ति से रहित व्यक्ति को इन सबका सामना करना कठिन है। अतएव वह अपने सन्तोष के लिये एक ऐसे सर्व शक्तिमान् देवता में विश्वास की शरण लेता है, जो इन सबसे परे हो और इन सबको दूर कर सकता हो। अतएव ईश्वर है कि नहीं, इस झमेले में पड़ना व्यर्थ है। ईश्वर की सत्ता के विषय में इस प्रकार की विचार-परंपरा में श्रेष्ठ व्यक्तियों का मत प्रायः नकारात्मक ही है। उनके विचार में ईश्वर आदि सब अंध-विश्वास पर आधारित हैं, वास्तव में उनका अस्तित्व नहीं है। वास्तविक अस्तित्व तो बाह्य जगत का ही है, जो विज्ञान से प्रमाणित है और जिसके द्वारा हमारी इच्छा-पूर्ति होती है। अतएव ऐसे लोग साम्यवाद की तरह धर्म के घोर विरोधी नहीं होते। यदि उससे भी कुछ काम चल जाता है, तो उसमें भी सत्य है।

वास्तव में इस प्रकार की विचार-परंपरा वैश्य अथवा वेश्या-वृत्ति है। एक बनिये के यहाँ जाइये, तो उसे इससे विशेष मतलब नहीं है कि आप ईश्वर में विश्वास करते हैं अथवा नहीं, नैतिक हैं अथवा अनैतिक और आपका दर्शन कैसा है। वह इस प्रकार के विचारों में पड़ना पागलपन समझता है और उसका असली मतलब तो यह है कि उसको आपसे कितने धन का लाभ संभव है। यदि आपके दर्शन और विचार को ठीक कहने से उसे अधिक लाभ होता दिखाई दे, तो वह भी हाँ मिलाने लगेगा। इसी प्रकार वेश्या को भी आपके रूप-रंग, विश्वास आदि से कोई मतलब नहीं है। आप कितना धन दे सकते हैं, यही

महत्व की वस्तु है। वह धन-प्राप्ति के लिये अपना तन, मन, इज्जत सब कुछ बेच देती है। अमेरिका की नीति भारतीयों के साथ बहुत-कुछ इसी प्रकार की है। जब हमारे यहाँ चर्खे और अहिंसा का राग अलापा जाता है, तब वे लोग भी इन बातों की प्रशंसा करते हैं, जिनमें कि स्वयं उनका विश्वास नहीं है। उनका उद्देश्य यही है कि हम उनके टुकड़े खाकर उन्हीं के आगे-पीछे फिरा करें।

अवसरवादी, भोगवादी अथवा जड़वादी लोग सांसारिक दृष्टि से सफल समझे जाते हैं; क्योंकि वे भौतिक मूल्यों को ही मानव-जीवन के मूल्यों की इतिश्री समझते हैं और उन्हें किसी-न-किसी प्रकार हथिया ही लेते हैं। ऐसे लोग उचित योग्यता न होने पर भी इधर-उधर से युक्तियाँ भिड़ाकर बड़े-बड़े पदों पर आसीन हो जाते हैं। अतएव संसार में प्रायः ऐसे चतुर व्यक्ति बड़े सफल माने जाते हैं। हमारे प्रत्येक कार्य अथवा विचार के दो प्रकार के फल होते हैं—एक भौतिक, सांसारिक अथवा बाह्य और दूसरा मानसिक, आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक। सांसारिक अथवा बाह्य दृष्टि से सफल समझे जानेवाले, सदा हँसमुख रहने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति वास्तव में अन्तर से दुःखी होते हैं।

भोगवादी व्यक्तियों को अनेक प्रकार की असंख्य इच्छायें रहा करती हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने पर वह अनेक इच्छाओं को स्वभावतः ही जन्म देती है और इससे उनके मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाओं में भयानक अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं। इच्छापूर्ति स्वयं ही कोई दोषपूर्ण वस्तु नहीं है, वरन् हमारे जीवन का ध्येय केवल यही हो जाय, यह महादुःख की बात है। जो आदमी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए निन्यानवे के फेर में पड़ा रहेगा, उसके मन को ठौर कहाँ? उसे तो उसकी अजस्र इच्छायें अशान्त बनाये ही रहेंगी; वह सदा बेचैन ही बना रहेगा। जिसका मन अशान्त है, उसे सुख कैसे संभव है। सुख तो मन की शान्तावस्था, स्थिरता का स्वरूप है।

हमारे विचार और भाव ही अधिकतया हमारे सुख-दुःख के वास्तविक कारण होते हैं। अवसरवादी व्यक्ति अनेक-मति और अस्थिर-मनवाला होता है। अवसरवादी व्यक्ति बहिर्मुखी होता है। बाह्य सफलता ही उसका लक्ष्य है। अतएव उसी को दृष्टि में रखकर उसको बार-बार अपने सिद्धान्त और निश्चयों को बदलते रहना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति का मन सदा ही डांवाडोल स्थिति में रहता है, क्योंकि उसका निश्चय अपने आप पर नहीं, वरन् बाह्य परिस्थितियों पर आधारित रहता है। स्वार्थ-परायण व्यक्ति के मन में दूसरे व्यक्तियों के प्रति दुर्भावनायें रहती हैं। जो उसके स्वार्थ में बाधक होते हैं, वह उनके प्रति द्वेष रखता है और सदा भयभीत अवस्था में रहता है। साथ ही ऐसे व्यक्तियों के मनमें

विभाजन रहा करता है। उनके व्यक्तित्व में एकीकरण करनेवाला कोई सूत्र नहीं होता। इच्छाओं में स्वयं समन्वित और संगठित होने की कोई शक्ति नहीं होती। अवसरवादी अथवा भोगवादी व्यक्ति के मन में एकीकरण नहीं होता; उसके भावों में समन्वय और संगठन का अभाव रहता है। भोगों में मोहित रहने के कारण उसको इसपर विचार करने की आवश्यकता भी समझ नहीं पड़ती। वर्तमान समय की सांसारिक अशान्ति और मानसिक रोगों के आधिक्य का कारण भोगवादी दृष्टिकोण ही है।

सभी आध्यात्मिक सन्तों, महात्माओं और विचारकों का मत है कि वास्तविक शान्ति और आनन्द इच्छाओं की पूर्ति में नहीं वरन् उनकी समाप्ति में है, उनका गुलाम बनने में नहीं, किन्तु उनसे मुक्ति पाने में है। आध्यात्मिक पुरुषों के अनुसार अवसरवादी व्यक्ति आत्मघाती होता है। वह येन-केन-प्रकारेण सांसारिक मूल्य को तो प्राप्त कर लेता है, पर अपने आपको खो देता है। महात्माओं का कहना है कि यदि सम्पूर्ण संसार का राज्य भी मिल जाय और अपने आपको खो देना, बेच देना पड़े; तो कौन-सा बड़ा लाभ है।' आध्यात्मिक व्यक्ति अथवा योगी और सांसारिक (भोगी) मनुष्य में यही अन्तर है कि योगी अपनी चेतना का (अपने आपका) मूल्य करता है; उससे बड़ा वह किसी वस्तु को नहीं समझता। मन की शुद्धि अथवा चेतनाके निर्माणके लिये वह अन्य सभी वस्तुओं को त्यागने के लिये तैयार रहता है। किसी वस्तु की प्राप्ति से यदि उसका मन अशुद्ध होता हो, तो चाहे सांसारिक और व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो, वह उसे तृणवत् त्याग देगा। ऐसे लोगों को प्रायः संसारी चतुर लोग मूर्ख समझा करते हैं। इसके विपरीत भौतिक मूल्यों को ही जीवन का सर्वस्व समझनेवाले लोग अपनी चेतना अथवा मन की शुद्धि-अशुद्धि की चिन्ता नहीं करते। वे अपने भौतिक स्वार्थों की प्राप्ति को ही सर्वाधिक मूल्यवान समझते हैं। भोगवादी और अवसरवादी मनुष्य ऊपरी दृष्टि से चतुर और सफल अवश्य दिखाई देता है, पर वास्तव में तात्विक दृष्टि से वह मूर्ख और असफल ही रहता है। वह आत्म-मणिको खोकर पत्थर इकट्ठे करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर देता है।

अवसरवादी व्यक्ति अपने मन में ही अशान्त रहता हो यही बात नहीं, वरन् वह अपने सम्बन्धियों, मित्रों और आसपास के लोगोंको भी अपना शत्रु बना लिया करता है। वह बड़ा स्वार्थी होता है और अवसर आने पर स्वार्थ-वश उसे अपने अनन्य संबंधियों और मित्रों को भी धोखा देना पड़ता है। पहिले तो ऐसे व्यक्ति का कोई सच्चा मित्र होता ही नहीं और यदि हो भी जाय, तो कुछ ही

दिनों में वह उनका दुश्मन बन जाता है। स्वार्थी व्यक्ति को आसपास के सभी व्यक्ति शत्रु-रूप दिखाई देते हैं और इसके कारण वह बड़ा भयभीत और सतर्क रहता है। यदि उसके आसपास के लोग उसकी जड़-खोदने में लगे रहें, तो कोई व्यक्ति कैसे सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है? अतएव भोगवादी व्यक्ति बिन-जिन सुखों के लिये इतना प्रयास करता है, मन की विक्षिप्तता के कारण उनको भी उचित रूप से नहीं भोग सकता। इस प्रकार अंत में ऐसा व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से भी अभागा और निराशावादी ही रहता है।

आजकल संसार की भारी अशान्ति और हाय-हाय का कारण लोग प्रायः बाहर की परिस्थितियों में देखा करते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर दोष थोपते रहता है। पर वास्तव में स्वार्थमयी और जड़वादी प्रवृत्ति ही इन सब अनर्थों का कारण है।

आधुनिक संसार के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग महाशय ने इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए अपनी 'माडर्न मैन इन सर्च आफ् ए सोल' नामक पुस्तक के 'स्टेजेज-आफ लाइफ'-नामक लेख में यह सलाह दी है कि जीवन के अन्तिम चरण में (चालीस वर्ष की अवस्था के बाद) आत्म-कल्याण और शान्ति चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को धीरे-धीरे भौतिक मूल्यों और सफलताओं के चक्कर से अपने आपको छुड़ाने और आध्यात्मिक मूल्यों का चिन्तन करने का प्रयास करना चाहिये। ऐसा न करने पर उसको मानसिक अशान्ति और विक्षिप्तता का होना निश्चित है। उसने संसार के विभिन्न देशों, जातियों और धर्मों के व्यक्तियों की चिकित्सा के अनुभव के बाद यह निश्चय किया कि जो व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम चरण में प्रवेश कर गये हैं, उन्होंने जब तक सांसारिक भौतिक मूल्यों को छोड़कर किसी धर्म, अथवा आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास नहीं कर लिया; तब तक वे स्वस्थ नहीं हुए।

—प्रणवीर सिंह चौधरी, एम० ए० (रिसर्च स्कालर)

मन का स्वरूप

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों ने स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य की सफलता उसकी आन्तरिक इच्छाओं, भावनाओं तथा कल्पनाओं के ऊपर निर्भर है। हेनरी नाइट मिलर महाशय ने अपनी 'प्रेक्टिकल साइकोलाजी' नाम की पुस्तक में इसी सत्य को दर्शाया है। उनका कथन है कि मनुष्य का बाह्य जगत उसकी आन्तरिक कल्पनाओं तथा भावनाओं पर आधारित है। जिस व्यक्ति के आन्तरिक विचार अच्छे हैं, उसका बाह्य जगत भी अच्छा होगा तथा जिस व्यक्ति के आन्तरिक विचार गन्दे हैं, उसका बाह्य जगत भी उसके लिये गन्दा ही होगा। कारण यह कि बाह्य जगत कुछ भी नहीं है, वरन् हमारे ही विचारों, भावनाओं तथा कल्पनाओं का प्रक्षेपण मात्र है। अपने इस कथन को सत्य बताते हुए उन्होंने सिनेमा-घर का एक बड़ा ही उपयुक्त उदाहरण पेश किया है। जब हम सिनेमा-गृह में प्रवेश करते हैं, तो हम वहाँ कुछ भी नहीं पाते। हमारे आगे सिर्फ सफेद पर्दा रहता है। थोड़ी देर बाद पर्दे पर साफ रोशनी पड़ने लगती है। प्रश्न यह है कि जब पर्दा भी सफेद तथा रोशनी भी उजली ही, तो ये नाचने-गाने की क्रियाएँ पर्दे पर कैसे दिख पड़ने लगीं? आखिर ये हँसते-बोलते व्यक्ति पर्दे पर आये कहाँ से? बात यह है कि ऊपर में पीछे एक कमरे में एक व्यक्ति फिल्मों की मशीन घूमाता बैठा है, रोशनी उन्हीं फिल्मों की रीलों से होकर पर्दे पर आती है, जहाँ हमें उन्हीं फिल्मों की छाया हँसती-बोलती दिखाई पड़ती है। वास्तव में पर्दा तो शून्य है, उस पर कुछ भी नहीं है; किन्तु जब वह व्यक्ति मशीन घुमाता है, तो हमें पर्दे पर चित्र दिखाई पड़ने लगते हैं। पर्दे का अर्थ बाह्य जगत है, जिसमें हम अपने सरीखे दूसरे व्यक्तियों को खेलते-कूदते, हँसते-बोलते पाते हैं। बाह्य जगत में कुछ भी नहीं है, वह तो शून्य है। किन्तु जब व्यक्ति का अचेतन मन व्यक्ति के आन्तरिक विचारों, कल्पनाओं, भावनाओं तथा इच्छाओं की रील को घुमाता है, तो उन विचारों की छाया बाहरी जगत पर पड़ती है और इसी प्रकार हम बाहरी जगत को चलता-फिरता देखते हैं।

उपर्युक्त कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि मनुष्य अगर चाहे तो अपने विचारों में परिवर्त्तन करके जीवन के हर क्षेत्र में सफलतायें प्राप्त कर सकता है। किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वह अपने विचारों को बदल सकता है। मिलर महाशय के अनुसार सिनेमा-गृह में रीलों की मशीन घुमाने वाला व्यक्ति ही सब कुछ है। ठीक उसी प्रकार चेतन मन ही सब कुछ है, जो विचारों की रील घुमाता है और इस प्रकार विचारों के अनुकूल ही बाह्य जगत का निर्माण

भी करता है।

किन्तु सत्य यह नहीं है। सिनेमा-गृह में मशीन घुमानेवाला व्यक्ति मशीनों को तो अवश्य ही घुमाता है, किन्तु वह मनमाना खेल नहीं दिखला सकता। वह तो एक वेतन-भोगी कार्यकर्त्ता है, जो सिर्फ मशीन घुमाने का काम करता है। रील तो पहले से ही तैयार होता है, वह तो इन रीलों की छाया को पर्दे पर प्रदर्शित करने का एक साधन मात्र है। वह बहुत से ऐसे चित्रों का भी प्रदर्शन करता है, जो उसकी रुचि के अनुकूल नहीं होते हैं। उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी प्रदर्शन करना पड़ता है, वह मजबूर है।

तो सारांश यह कि रीलें जिसके संचालन में बनी हैं, वही सब कुछ है। उसके एक इशारे मात्र से ही रीलों में तरह-तरह के परिवर्त्तन हो सकते हैं। अतः अगर वह मशीन घुमानेवाला व्यक्ति संचालक से अपना सम्पर्क स्थापित करे, तो वह मन चाहे जो भी चित्र पर्दे पर दिखला सकता है। ठीक यही बात मनुष्य के सम्बन्ध में भी लागू है। व्यक्ति का चेतन मन तो एक साधन मात्र है। विचार तो बहुत पहले ही निर्मित हो चुके हैं। उन विचारों को वह सिर्फ संचालित करता है। विचारों, भावों तथा कल्पनाओं का निर्माता मनुष्य का अपना अन्तरतम स्वत्व है। उसका चेतना मन तो एक साधन मात्र है। वह तो अन्तरतम स्वत्व की आज्ञा से ही विचारों की रील को घुमाता है। इस कारण विचारों में परिवर्त्तन करने की शक्ति उसी अन्तरतम स्वत्व में है, चेतन में नहीं। हाँ, अगर चेतन मन अपना सम्पर्क अन्तरतम स्वत्व से स्थापित करे, तो वह निःसंदेह मन-चाहे विचारों को बाह्य जगत में प्रदर्शित करके अपने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि वह अपना सम्पर्क अपने अन्तरतम स्वत्व से कैसे स्थापित करे? इसके लिये बस एक ही उपाय है। वह अपना सब कुछ अच्छा-बुरा उसको समर्पित कर दे। वह अपनी अहंभावना को उसी अन्तरतम स्वत्व में मिला दे। जब तक वह अपनी अहंमन्यता को उसमें विलीन नहीं कर देता है, तब तक वह अन्तरतम स्वत्व के साथ अपनी दोस्ती कायम नहीं कर सकता। उसे प्रतिदिन इस बात का अभ्यास करना होगा।

हमारे धर्म-ग्रन्थों में इसी आशय का एक कथन है। व्यासजीने कहा है कि जहाँ भी कृष्ण तथा अर्जुन रहेंगे, वहीं जीत होगी। अर्जुन इतना बड़ा धनुर्धर भी बिना कृष्ण के युद्ध में विजयी नहीं हो सकता। कृष्ण मनुष्य के अन्तरतम स्वत्व का द्योतक है तथा अर्जुन मनुष्य के चेतन मन का। कृष्ण अर्जुन को अपना साधन बनाकर काम करता है।

—अर्जुन प्रसाद पाण्डेय

विश्वास

विश्वास ऐसे सिद्धान्त या विचार की स्वीकृति है, जो हमारे जीवन का संचालन करता है। मनुष्य का जीवन उसके विश्वासों का परिणाम है। मनुष्य जिस प्रकार का दर्शन बना लेता है, उसका जीवन स्वतः उसी प्रकार का हो जाता है। बाह्य जगत् मनुष्य के विचारों का प्रतीकमात्र है। बिना किसी प्रकार के विचार के जीवन की सत्ता को प्रमाणित करना भी कठिन हो जाता है। हम हैं इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हम सोच सकते हैं—हममें चिन्तनशीलता है। परन्तु जीवन के निर्माण के लिए केवल विचार की ही नहीं, अपितु शुद्ध विचार अथवा सच्चे जीवन-दर्शन एवं उस दर्शन में अटल विश्वास की आवश्यकता होती है। संसार का समस्त बौद्धिक व्यायाम इसी तत्व की छान-बीन का परिणाम है। सही दर्शन और निर्दोष लक्ष्य के बिना शान्तिमय जीवन कदापि संभव नहीं हो सकता। निर्दोष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सत्य की सत्ता में विश्वास करने की नितान्त आवश्यकता है।

सभी ज्ञान-विज्ञान विश्वास पर ही निर्भर हैं। यदि मनुष्य को अपनी विचार-प्रणाली में विश्वास न हो, तो किसी भी सिद्धान्त का निश्चित होना ही कठिन हो जाएगा। भौतिक जगत की सारी गतियों का निर्णय हम मस्तिष्क अर्थात् विचारों में ही कर डालते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि कर चुका है कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक और स्नायविक रोगों का कारण उसका मन अर्थात् उसका विश्वास ही है। ये रोग इसीलिए होते हैं, क्योंकि मनुष्य का आन्तरिक मन रोगी होना चाहता है। शरीर एवं मनुष्य की सत्ता की रक्षा के लिए कभी-कभी रोग भी आवश्यक हो जाता है। रोग मनुष्य की विकृत इच्छाओं अथवा दुःषित विश्वासों का संतुष्टीकरण है।

रोगी होने के पहिले मनुष्य में रोग के विचार आते हैं। बार-बार रोग का विचार आने से मनुष्य को विश्वास हो जाता है कि वह रोगी हो गया है। यही विश्वास शारीकि रोग के रूप में प्रकट होता है, जिससे रोगी का विचार और भी दृढ़ होने लगता है। बहुत से युवकों को टी० बी० का भय हो जाता है। उनका भ्रम-पूर्ण विश्वास शारीरिक लक्षणों में भी प्रकट होने लगता है। यदि ऐसे व्यक्तियों का विश्वास बदल न दिया जाए, तो वस्तुतः वे उक्त रोग के रोगी हो जाते हैं। विश्वास के बदल जाने जाने से शारीरिक लक्षण भी बदलने लगते हैं। इससे यह निश्चित है कि जिस प्रकार मन अर्थात् विश्वास रोग का कारण है, उसी प्रकार वह रोग निवृति का भी कारण है। आशावादी रोगी

बहुत जल्द आरोग्य-लाभ करता है। जब वैद्य की योग्यता में रोगी को पूर्ण विश्वास हो जाता है, तो वह स्वतः अच्छा हो जाता है। 'विश्वास फलदायक होता है' इस कथन का रहस्य यही है। मानसिक चिकित्सा की भित्ति विश्वास के आधार पर खड़ी होती है। रोगी और चिकित्सक दोनों में ही विश्वास का होना परमावश्यक है।

'चिकित्सक में आत्म-विश्वास के साथ-साथ रोगी में भी आत्म-विश्वास और चिकित्सक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने की क्षमता होनी चाहिये। इसके लिए चिकित्सक के पक्ष में त्याग, तपस्या और आध्यात्मिक बल की आवश्यकता होती है। स्वार्थ अथवा भौतिक सुख की इच्छा से प्रेरित होकर मानसिक चिकित्सक बननेवाले को कभी सफलता या शान्ति नहीं मिलती। मानसिक चिकित्सक आशावादी और एक सर्वशक्तिमान सत्ता में विश्वास करनेवाला होता है और उसका यह अटल विश्वास ही उसकी सफलता का कारण बनता है। निराशावादी और अविश्वासी व्यक्ति को अपने प्रभाव से आशावादी या विश्वासी बना देना ही उसका परम कर्तव्य है और यह विश्वास से ही सम्भव है। सम्मोहन भी विश्वास के आधार पर ही संभव है। चिकित्सक रोगी को आराम से लिटाकर कहता है—'तुम्हें नींद आ रही है, तुम्हारी पलकें ढंप रही हैं, तुम थकित हो, तुम सो रहे हो, सोने पर तुम्हें परम शान्ति मिलेगी, फिर तुम्हारे सारे कष्ट मिट जायँगे, तुम स्वस्थ हो जाओगे, आदि-आदि'।

चिकित्सक के प्रति विश्वास रखनेवाला रोगी वस्तुतः सो जाता है तथा जगने पर शान्ति और स्वस्थता की अनुभूति करता है। इस प्रकार के निर्देश विश्वास के आधार पर सफलीभूत होते हैं। रोगी चिकित्सक को ईश्वर-तुल्य और अलौकिक व्यक्ति मान लेता है। इस विश्वास के कारण चिकित्सक जो भी निर्देश देता है, वे सब सत्य में परिणत हो जाते हैं। प्राचीनकाल में ऋषि-मुनियों के अभिशाप और वरदान इसीलिए सफल होते थे, कारण अपने तपोबल से वे लोगों में अपना विश्वास जमा लेते थे। दृढ़ इच्छा शक्ति और मनोबल प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के सम्पर्क में आनेवाले लोग स्वतः प्रभावित हो जाते हैं। उनके प्रति लोगों का विश्वास ही निर्दिष्ट कार्य में परिणत हो जाता है।

विश्वास उत्पन्न कराने के लिए रोगी को स्नेह और सहानुभूति देने की आवश्यकता पड़ती है। स्नेह के अभाव में ही व्यक्ति अविश्वासी और निराशा-वादी हो जाता है। समस्त भौतिक जगत का निर्माण आकर्षण और मिलन का ही परिणाम है। आकर्षण प्रेम और स्नेह का द्योतक है। दूसरों के प्रति स्नेह होने से ही हमें अपने प्रति भी स्नेह होता है। यहाँ विश्वास के आधार पर जीवन-

परिवर्तन का एक उदाहरण दे देना समीचीन ही होगा।

दो-तीन दिन पहिले की बात है। मनोविज्ञानशाला में एक विद्यार्थी चिकित्सार्थ आया। चिकित्सक उससे बड़े प्रेम से मिले और उन्होंने उससे काफी आत्मीयता दिखाई। रोगी पर इस स्नेहपूर्ण व्यवहार का काफी प्रभाव पड़ा। उसने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अपनी करुण कहानी सुनाई। विद्यार्थी पढ़ने-लिखने में तेज था, पर वह जीवन के प्रति उदासीन था। उसे अपनी सफलता में बिल्कुल ही विश्वास न था, जिस कारण आत्महत्या कर वह अपने बोझीले जीवन से मुक्त होना चाहता था। चिकित्सक को उसकी मनोस्थिति का कारण मालूम हो गया। फिर दोनों में इस प्रकार बात-चीत हुई—

चिकित्सक—'तो तुम बेराम हो ?'

रोगी—'जी, हाँ।'

'बेराम का अर्थ क्या होता है, यह जानते हो ?'

'जी !'

'बताओ ?'

'अस्वस्थता, रोग।'

'ठीक है। पर बेराम का अर्थ इससे भी कुछ अधिक होता है। 'बेराम' का अर्थ होता है बे–राम अर्थात् राम के बिना–राम-हीन। तुमने अपने राम—आत्म या एक सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति विश्वास—को अपने से हटा दिया है। तुम्हें किसी के प्रति विश्वास नहीं है, यही कारण है कि तुम अपने प्रति भी विश्वास नहीं करते हो। विश्वास के अभाव में तुम्हारा जीवन नीरस हो गया है।'

रोगी सिर झुकाए कुछ देर तक सोचता रहा। उसकी आँखों में अश्रु-कण आ गए। उसने कहा—'हाँ'।

चिकित्सक ने पूछा—'अब तुम क्या चाहते हो ?'

रोगी ने बड़ी कातरता के साथ कहा—'मुझे इस दुःख से मुक्त कीजिए।'

चि०—'तो तुम आराम चाहते हो ?'

'जी।'

'आराम का अर्थ जानते हो ?'

'जी हाँ, आरोग्य।'

'हाँ, पर इसका आध्यामिक अर्थ भी सुन लो। 'आराम' का अर्थ होता है 'आ-राम' अर्थात् हे राम, आओ। जब तुम राम की सत्ता को स्वीकार करोगे—अपने 'अहं' के बोझ को किसी के चरण-तले रख दोगे; तभी तुम्हें

आरोग्य मिलेगा।'

रोगी पर इस वार्त्तालाप का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। चिकित्सक का स्नेह और सहानुभूति पाकर उसके जीवन के सारे उद्गार अश्रुसिक्त होकर निकल पड़े। उसका समस्त जीवन-दर्शन ही बदल गया। जहाँ वह पहिले स्वार्थी और अभिमानी था, वहाँ वह परोपकारी, उदार और सहनशील व्यक्ति हो गया।

इस रोगी के मनोविश्लेषण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के दुःख-सुख के कारण उसके विश्वास ही होते हैं। सत्य और मिथ्या की मीमांसा की आवश्यकता इसीलिए पड़ी कि सत्य के आचरण से मनुष्य का आत्म-बल बढ़ता है और आत्म-बल की वृद्धि से मनुष्य सभी कामों में सफल होता है। डा० युंग का कहना है कि सभी मानसिक रोगी धर्महीन (निराशावादी) होते हैं और उन्हें स्वस्थ करने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें किसी एक धर्म (सत्य) का सहारा दिया जाए। इसी बात को इस ढंग से भी कहा जा सकता सकता है कि सभी मानसिक रोगी विश्वास-हीन (चाहे वह धर्म, ईश्वर या अपने प्रति ही क्यों न हो) होते हैं और उन्हें स्वस्थ करने का एकमात्र औषध यही है कि उनमें विश्वास उत्पन्न कराया जाए। अपने में विश्वास उत्पन्न करने के लिए एक सर्वशक्तिमान और न्यायशील सत्ता में विश्वास करने की एकान्त अपेक्षा है।

शास्त्रों में कहा गया है कि विजय सदा सत्य की ही होती है, असत्य की नहीं। इसका मूल कारण यही है कि सत्य के पक्ष से संग्राम करनेवाले को इस बात का दृढ़ विश्वास रहता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह सर्वथा उपयुक्त और समाज के लिए लाभदायक है। ऐसे व्यक्तियों की मानसिक और परिणामतः शारीरिक शक्तियाँ एकमुखी होती हैं। दूसरी ओर असत्य अथवा स्वार्थ-वश प्रतिद्वन्द्विता करनेवाले का मन शंकित रहता है। उसके अन्तर्मन में यह बात बैठ जाती है कि मैं लोभ या अभिमान-वश अनुचित कार्य कर रहा हूँ और मेरा विपक्षी सत्य एवं अधिकार की रक्षा के लिए लड़ रहा है। इस प्रकार उसके विश्वास और क्रिया अर्थात् मानसिक और शारीरिक शक्तियों में ही संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इस तरह उसे बाहरी और भीतरी दो शत्रुओं का सामना करना पड़ता है।

बाहरी शत्रु का आक्रमण उतना भयानक नहीं होता, जितना भीतरी अथवा आन्तरिक शत्रु का। दुर्योधन और रावण जैसे प्रबल शक्तिशालियों का विनाशकर्ता उनकी आध्यात्मिक दुर्बलता ही थी। दुर्योधन का यह कहना कि मैं धर्म (सत्य) को तो जानता हूँ, पर उसका आचरण नहीं कर सकता और अधर्म

(असत्य) को जानते हुए भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता। इस बात की पुष्टि करता है कि उसके मन में यह बात बैठ गई थी कि मैं अनुचित मार्ग में हूँ और मेरी सफलता सम्भव नहीं।

जीवन के प्रति यह अविश्वास ही मृत्यु का कारण होता है। दूसरी ओर रावण की हत्या राम ने नहीं, अपितु विभीषण ने की। विभीषण रावण का ही दूसरा सत्व (सहोदर) है। जब अपना ही अन्तर शत्रु बन जाए, तो बाहरी शक्तियों को प्राप्त करके मनुष्य कब तक जीवित रह सकता है। मैं तो यहाँ तक कहने के पक्ष में हूँ कि मनुष्य को कोई रोग या शत्रु नहीं मार सकता; वह मरता है तो केवल आत्म-हत्या से ही। अपार शक्तियों का स्वामी कौरव-कुल आत्म-हत्या से ही मरा। यही कारण है कि कुरु-क्षेत्र में युद्ध-हेतु उपस्थित कौरव-वीरों को कृष्ण ने मृतक बता दिया और अर्जुन ने समस्त कौरव-योद्धाओं को सिर-विहीन देखा। इसका तात्पर्य यही है कि जब मनुष्य बहुत अधिक पाप और दुष्कर्म कर लेता है, तो वह स्वयं मृत्यु का आकांक्षी हो जाता है। कौरवों की मृत्यु उसी समय हो चुकी थी, जब उन्होंने भरी सभा में एकवस्त्रा, रजस्वला द्रौपदी के केश पकड़ उनका वस्त्र खींचा था। कुरु-क्षेत्र में कौरव-पक्ष से केवल शव ही लड़ने आए थे, क्योंकि भीष्म जैसे महाधनुर्धर के मन में भी यह बात बैठ गई थी कि पेट के कारण उन्हें अन्याय का पक्ष लेना पड़ रहा है और अन्याय की जीत अनुचित है। इस प्रकार कौरव-पक्ष के सभी प्रधान वीरों को उनके मन ने ही मार डाला। अपनी क्रिया और सामर्थ्य के प्रति अविश्वास और ग्लानि होने के कारण उनके व्यक्तित्व का विघटन हुआ और उनकी अधिकांश शक्ति अपने से लड़ने में ही समाप्त हुई। यदि कर्ण निर्बला नारी पर व्यंग और निरस्त्र बालक पर बाण-प्रहार नहीं करता, तो वह अर्जुन-द्वारा असहाय अवस्था में नहीं मारा जाता।

दुर्योधन की मृत्यु का कारण पाण्डव-शिशुओं का वध और भीष्म की मृत्यु का कारण उनकी इच्छा ही हुई। दुर्योधन का आत्म-विश्वास पूर्ण-रूप से तब नष्ट हुआ, जब उसके कारण निद्रित अवस्था में कोमल बालकों की हत्या हुई। दूसरी ओर भीष्म की इच्छा-मृत्यु आत्म-हत्या का ही पर्याय है। मनुष्य मृत्यु-कामना तभी करता है, जब उसे संसार में जीने का कोई सहारा नहीं मिलता, जब उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल कार्य करना पड़ता है तथा जब उसका जीवन अपने और पराए के लिए भार-स्वरूप हो जाता है। जीवन का सहारा मनुष्य का विश्वास ही है और सबसे बड़ा विश्वास आत्म-विश्वास है। आत्म-विश्वास मनुष्य को तभी प्राप्त होता है, जब वह अन्तिम सत्य का ज्ञान कर लेता एवं तदनुरूप

आचरण करता है।

विश्वास मनुष्य के जीवन-संग्राम का सारथी है। आशावादी विश्वास मनुष्य को सफल बनाता है और निराशावादी विश्वास से मनुष्य अपना और साथ-साथ समाज का भी अनिष्ट करता है। महाभारत-समर में अर्जुन और कर्ण के संघर्ष का अन्तिम समय उपस्थित हुआ। अर्जुन के सारथी कृष्ण और कर्ण के रथ-संचालक शल्य थे। कृष्ण बराबर अर्जुन की प्रशंसा कर उन्हें प्रोत्साहित करते थे, जिससे अर्जुन का बल द्विगुणित हो जाता था। उधर शल्य और कर्ण में वैमनस्य था। शल्य प्रतिक्षण कर्ण को दुर्बल, हीन-वीर्य और अर्जुन की तुलना में शक्ति-हीन कह-कहकर उसके हृदय में संदेह उत्पन्न करा रहा था। इस प्रकार के बारंबार दुर्निर्देश से कर्ण को वास्तव में शक्ति-हीनता का बोध होने लगा और अपनी शक्ति के प्रति अविश्वास और पूर्वकृत कर्मों के प्रति ग्लानि होने से उसका विनाश हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से मित्र और सहायक होते हुए भी शल्य कर्ण की मृत्यु का कारण बना।

प्रत्येक अविश्वासी मनुष्य के मन में एक शल्य बैठा रहता है, जो निरन्तर दुर्निर्देश दे-देकर उसे संदेहशील और आत्म-विश्वास-हीन बनाए रहता है। मानसिक चिकित्सक मनुष्य के जीवन-रथ से शल्य को हटा वहाँ कृष्ण को बैठा देता है। कृष्ण (आशावादी विश्वास) वह सारथी है, जो कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को विचलित नहीं होने देता।

—किरीट भूषण मिश्र



अभिशाप में वरदान

जिस मनुष्य को जीवन में सब प्रकार की सफलताएँ मिलीं, जो धनी घर में पैदा हुआ, चाँदी के पालने में झुलाया गया, नातेदारों-द्वारा प्रोत्साहित किया गया तथा सब लोगों की सहायता से ऊँचे-ऊँचे पद और आत्म-प्रकाशन के सभी साधनों को पाया, उसको सामान्य लोग बड़े भाग्यवान समझते हैं। जो व्यक्ति दूसरों की सहायता से किसी प्रकार के लाभ और पद-प्राप्ति में सफल हो जाता है, वह भाग्यवान कहलाता है। संसार के कुछ लोग धूर्तता और चालबाजी से भी ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँच जाते और अनेक प्रकार के अनैतिक आचरणों से धनी बने अथवा अपने पद की रक्षा करते रहते हैं। ये सभी लोग भाग्यवान कहलाते हैं। परन्तु यदि हम गम्भीर मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें, तो हम उन्हें उतना भाग्यवान नहीं मानेंगे, जितना अन्यथा मानते हैं।

जिस मनुष्यको जीवनके सभी साधन सरलतासे मिल जाते हैं, वह इन्हीं साधनों में पड़ा रहता है। जब उसे किसी चीज को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, तब उसकी इच्छा-शक्ति बलवती होती ही नहीं। अपना बचपन सुख के वातावरण में बीताए हुए व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति दुर्बल होती है। ऐसे लोग समाज का मौलिक उपकार न कर उसका शोषण ही करते हैं। मनुष्य का अभ्यास जैसा होता है, वैसा ही उसका स्वभाव भी हो जाता है। सदा दूसरों से लाभ पाने वाले व्यक्तियों में वह क्षमता ही नहीं होती कि वे दूसरों का लाभ निस्वार्थ बुद्धि से करें। यदि वे दूसरों का लाभ करते हैं, तो इसी बुद्धि से करते हैं कि इससे उनको और अधिक लाभ होगा। ऐसे तो संसार में समाज-सेवकों की भरमार है। हमारे देश में जब से स्वराज्य की प्राप्ति हुई है, तब से इन समाज-सेवकों की संख्या कल्पनातीत रूप से बढ़ गई है। परन्तु कितने लोग वास्तव में दूसरों के लाभ के लिए ही उनकी सेवा करते हैं, यह विचारनीय वस्तु है। कुछ लोग पैसे कमाने, पद-प्राप्ति या राजनीतिक महत्व के लिए समाज सेवा करते हैं। इस प्रकार की समाज-सेवा मनुष्य का लौकिक लाभ करती है, परन्तु वह उसकी अन्तरात्मा के बल को नहीं बढ़ाती है। यदि समाज-सेवा से मनुष्य त्याग की अपेक्षा लाभ अधिक चाहता है, तो वह समाज-सेवा मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बलवती न बनाकर उसे दुर्बल ही बनाती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के सुख और दुःख उसकी बाहरी सम्पन्नता पर उतना निर्भर नहीं करते, जितना उसकी इच्छा-शक्ति की दृढ़ता या उसके आत्म-विश्वास पर। मनुष्य की कल्पना और विचार जैसे होते हैं, उसी प्रकार के उसके

सुख और दुःख भी होते हैं। यदि किसी व्यक्ति की कल्पनाएँ अभद्र हैं, तो सब प्रकार की सम्पन्नता के होते हुए भी वह दुःखी रहेगा। सुखद मार्ग से चलनेवाले या लौकिक लाभ की दृष्टि से ही काम करनेवाले व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति अपने आप ही दुर्बल हो जाती है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति एक बार दुर्बल हो जाती है, तो वह अपनी अभद्र कल्पनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति को यह विश्वास नहीं होता कि चाहे वह कितने ही संकट में क्यों न पड़ा हो, किसी-न-किसी प्रकार वह संकट के बाहर निकल ही आएगा। जहाँ संकट की संभवना नहीं है, दुर्बल इच्छा-शक्ति के लोग वहाँ भी संकट देखने लगते है। उनकी कल्पना उन्हें दुःखी ही बनाई रखती है।

हमारे यहाँ सैकड़ों ऐसे मानसिक रोगी आते हैं, जिन्हें भविष्य के विषय में अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। एक रोगी को भय लगा हुआ था कि उसके एक रिश्तेदार-द्वारा की गई हत्या का आरोप उसी पर लगा दिया जाएगा और इससे उसको फाँसी की सजा दी जाएगी। इस डर के मारे साल भर तक उसका जीवन बड़ा दुखी रहा। हमारे यहाँ आनेवाले कुछ नव युवक इसलिए विवाह नहीं करते, क्योंकि वे सोचते हैं कि विवाह होने पर वे नपुंसक सिद्ध होंगे। इस मानसिक पीड़ा के मारे वे इतने दुःखी रहते हैं कि उनके लिए जीवन भार ही हो जाता है। कितने ही लोगों को निरर्थक चिन्ताएँ खाए डालती हैं। इन सब के पीछे यदि हम छिपे कारण को देखें, तो इच्छा-शक्ति की दुर्बलता को ही पाएँगे। इच्छा-शक्ति की यह दुर्बलता मनुष्य में उन मूल्यों की अवहेलना करने से आती है, जिसके लिए मानव-जीवन है और जिसके आधार पर ही समाज चल सकता है।

जब मनुष्य को समाज के किसी व्यक्ति का सहारा नहीं रहता, जब उसको धन और दूसरी सुविधाएँ भी नहीं रहतीं, तभी उसको अन्तरात्मा की शक्ति को पहिचानने का अवसर मिलता है। अँग्रेजी में कहावत है कि आवश्यकताही आविष्कार की जननी है। जिसके सहायक संसार के सभी सम्पन्न लोग हैं, उसे अन्तरात्मा में निहित अपार शक्ति की खोज की आवश्यकता ही क्या है? इस तरह वह जीवन के सर्वोत्तम मूल्य से वंचित ही रह जाता है। यदि इस दृष्टि से हम देखें, तो संसार के भाग्यवान लोग अभागे हैं, और जिन्हें अभागा कहा जाता है, वे ही सच्चे भाग्यवान हैं। अतएव आध्यात्मिक मूल्यों पर विचार करने से हमें इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि प्रकृति के बहुत से वरदान अभिशाप और अभिशाप ही वरदान हैं।

—सम्पादक

राष्ट्र-निर्माण की समस्या और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान हमें यह तथ्य सिखाता है कि मनुष्य की कल्पना ही वास्तविकता बन जाती है। यदि हम अपने भविष्य के विषय में सुन्दर कल्पनाएँ अपने मन में लाते हैं, तो एक दिन हमारा जीवन अवश्य ही सुन्दर हो जाएगा; और यदि हम अपने भविष्य के विषय में बार-बार वीभत्स कल्पनाएँ लाते हैं, तो हमारा जीवन वैसा ही बन जाएगा। रोगी मनुष्य रोग से मुक्त होने की इच्छा करता है, परन्तु उसकी कल्पनाएँ आरोग्य की न होकर रोग की ही होती हैं। अतएव उसका जीवन रोग-मुक्त न होकर रोग से भरा हुआ ही रहता है।

भारतवर्ष के लोगों की सामुहिक कल्पना जब तक अभद्र रही; तब तक इस देश को विदेशियों की गुलामी में रहना पड़ा और अनेक प्रकार का दारिद्रय सहना पड़ा। जब इस देश की कल्पना आशावादी बन गई, तो हमारा देश स्वतंत्र हो गया और हम अपनी उन्नति की नई-नई योजनाएँ बनाने लगे। आज हमारे देश में स्वतंत्र भारत की स्पष्ट कल्पना नहीं है। पारस्परिक विरोधी विचार-धाराएँ एक दूसरे को सदा निर्बल बनाये रखती हैं। इसी के कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्र की जितनी उन्नति होनी चाहिए, उतनी न हो पायी।

हम आज यह निश्चय नहीं कर पाए हैं कि हमारे राष्ट्र का अन्तिम लक्ष्य देश का वैज्ञानिक उपयोगीकरण है, अथवा कुटीर उद्योगों की वृद्धि। हमारे युवकों को अहिंसा के युग के लिए तैयार करना है अथवा सैनिक योग्यता के लिए, समाज की विभिन्न जातियों और वर्गों को समाप्त करना है अथवा उनकी रक्षा, अपने देश के अछूतों को धन और बुद्धि में अपने समान ही बना लेना है अथवा उन्हें केवल मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देना है। इन बातों के विषय में न तो किसी नेता के स्पष्ट विचार हैं और न उनकी चर्चा ही होती है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक ओर हम अमेरिका की कूटनीति और पूँजीवाद से क्षुब्ध हैं और इसके कारण साम्यवादी देशों की सहानुभूति के इच्छुक हैं, दूसरी ओर इन देशों से अति समीपता स्थापित करने से भी डरते हैं। अमेरिका से हम आर्थिक सहायता चाहते हैं, परन्तु उसके राजनैतिक गुट्ट में सामिल होना नहीं चाहते। हम राष्ट्रसंघ के सदस्य बनकर अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने में हाथ बटाते हैं, परन्तु राष्ट्र-संघ के निर्णय से अपने आपको स्वतंत्र भी रखना चाहते हैं।

भारतवर्ष की उपर्युक्त मनोदशा विभाजित मन की अवस्था को दर्शाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की कल्पनाओं में कोई बल नही रहता। उसकी इच्छा-

शक्ति और कल्पना में सदा संघर्ष होते रहता है। जिस प्रकार मानसिक उलझन में पड़ा हुआ व्यक्ति अपनी कोईं भी प्रगति नहीं कर पाता, उसी प्रकार कोई भी राष्ट्र मानसिक उलझन में रहकर अपनी प्रगति नहीं कर पाता। देखा गया है कि प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी मानसिक उलझन के कारण तृतीय श्रेणी के बन जाते तथा अपनी परीक्षाओं में फेल भी हो जाते हैं। उनके चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है, स्मरण-शक्ति क्षीण तथा इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। ये विद्यार्थी प्राय: अपने आन्तरिक मन की समस्याओं को हल करने के बदले उन्हें भुलाने की चेष्टा करते हैं। इससे उनकी मानसिक जटिलता और भी बढ़ती जाती है। जब ऐसे विद्यार्थी सहानुभूत्यात्मक मानसोपचारक के पास आते हैं, तो उपचारक का प्रथम कर्तव्य यही होता है कि वह उनकी जटिल समस्याओं को उन्हें स्मरण कराए और अपनी शक्ति के विषय में उनके मन में जो गलत फहमी है, उसे हटाने में सहायता करे।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपार शक्ति है। वह अपनी सभी समस्याओं को हल कर सकता है। अपनी मानसिक शक्ति के अज्ञान के कारण ही वह दु:खी बनता है और समस्याओं को हल करने के बदले उन्हें विस्मृत करने की चेष्टा करता है। सहानुभूत्यात्मक मानसोपचारक उलझन में पड़े हुए मानसिक रोगी में आत्म-निर्देश के द्वारा स्वावलम्बन और सामर्थ्य का भाव उत्पन्न करता है। इससे रोगी पलायनवाद को छोड़ अपनी मानसिक समस्याओं का सामना करता है और उन्हें सुलझाने में समर्थ होता है। पीछे उसे ज्ञान होता है कि उसकी समस्याएँ कितनी नगण्य थी और उसके विकृत मन ने किस तरह तिल का ताड़ बना लिया था।

जो बात व्यक्तिगत मन के विषय में सही है, वही बात राष्ट्रीय मन के विषय में भी सही है। अपने घर की समस्याओं को सुलझाने में जो लोग अपने आपको असमर्थ पाते हैं, वे ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अपने आपको डाल कर आत्म-विस्मृति की चेष्टा करते हैं। किसी भी राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय बल राष्ट्र में उपस्थित शक्तियों के एकीकरण और समन्वय पर उसी प्रकार निर्भर करता है, जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति का मानसिक बल मनुष्य के भीतरी और बाहरी मन में उपस्थित शक्तियों के एकमुखी होने पर निर्भर करता है। गृहस्थ-जीवन में असफल कितने ही व्यक्ति समाज-सेवा के कामों में लगकर अपने आपको भुलाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जो लोग अपने गृहस्थ-जीवन को ठीक-से नहीं सम्हाल पाए, वे समाज-संगठन में कैसे सफल हो सकते हैं। उनके व्यक्तित्व की कमी ही उनके सामाजिक कामों में आविर्भूत हो जाती हैं। इसी प्रकार जो राष्ट्र अपने घरेलू जीवन को सम्हालने में असफल रहा, वही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में पड़कर

अपनी बुद्धिमानी और नैतिकता की ख्याती प्राप्ति की चेष्टा करता है। जब कभी ऐसे राष्ट्र को इन कार्यों में असफलता मिलती है, तब वह अपने आप से निराश हो जाता है। यही बाहरी सम्मान से निराशा की अवस्था आत्मबोध की अवस्था होती है। बिना अन्तर्मुखी बने मनुष्य अपने मनोबल को नहीं बढ़ा सकता। इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र अपनी आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में पूरी शक्ति खर्च किए बिना बलवान् नहीं हो सकता।

प्रत्येक व्यक्ति के अचेतन मन में उसी प्रकार अपार शक्ति है, जिस प्रकार एक जड़ अणु में अपार शक्ति है। इस शक्ति का ज्ञान न रहने के कारण हम अपनी समस्याओं से भागने की चेष्टा करते हैं। अपनी शक्ति का ज्ञान होने पर हम अपनी सभी समस्याओं को सरलता से हल कर सकते हैं। राष्ट्र के विषय में भी यही बात सही है। भारतवर्ष के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं है, जिसे वह हल नहीं कर सकता, चाहे वह समस्या हिन्दू-मुसलिम एकता की हो, उपयोगीकरण की हो, अछूतोद्धार की हो अथवा भारत के शस्त्रीकरण की हो। परन्तु पलायनवाद की मनोवृति से ये समस्याएँ हल नहीं होंगी। सच्चा अहिंसावादी वही व्यक्ति अथवा राष्ट्र हो सकता है, जिसके पास भौतिक और नैतिक बल है। जिस वर्ग, जाति अथवा सम्प्रदाय के पास आर्थिक और बौद्धिक बल होता है, उसका सम्मान सभी करते हैं और सभी लोग उसकी मित्रता की आशा करते हैं। शिक्षा के अभाव में ही हमारी सामाजिक समस्याएँ जटिल हुई हैं। निर्धनता में शिक्षा सम्भव नहीं। अतएव जिस भी यत्न से राष्ट्र में धन और शिक्षा बढ़े, वही हमारे लिए कल्याणकर होगा। इनको बढ़ाने के लिए पारस्परिक विरोधी योजनाओं को प्रश्रय न देकर हमें एकमुखी बनना नितान्त आवश्यक है।

आज हमारे देश में वैज्ञानिक विचार की वृद्धि की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जब तक देश में पुराने अन्ध-विश्वास बने रहेंगे, तब तक केवल धन की वृद्धि से हमारे राष्ट्र की समस्या नहीं सुलझेगी। ज्ञान ही मनुष्य को वह सामर्थ्य प्रदान करता है, जिससे वह अपनी सभी समस्याएँ सरलता से हल कर लेता है। समझदार लोग जिस भी सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रणाली को अपनायँगे, वह भली ही होगी। मूर्ख लोगों पर लादी गई अच्छी-से-अच्छी सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली उन्हें स्वावलम्बी न बनाकर परावलम्बी ही बनाएगी। अशिक्षित लोगों में जनतंत्रवाद अधिनायकवाद को ही व्यवहार में लाता है और शिक्षित लोगों का अधिनायकवाद जनतन्त्रवाद बन जाता है।

मनोविज्ञान और गृहस्थ-जीवन की सफलता

अपने गृहस्थ-जीवन को सफल बनाने के लिए बड़ी ही मनोवैज्ञानिक सूझ की आवश्यकता पड़ती है। गार्हस्थ्य जीवन को दुःखी बनाने में दो बातों का विशेष महत्व रखता है, एक पति-पत्नी का सम्बन्ध और दूसरा पिता-पुत्र का सम्बन्ध। आज भारत वर्ष के बहुत से घर इस लिए दुःखी बने हुए हैं कि घर में खाने-पीने के सब कुछ होते हुए भी घर के नजदीकी सम्बन्धियों में गहरा द्वेष-भाव है। इस प्रकार का दुःखमय वातावरण यदि सामान्य शिक्षा की कमी के कारण हो, तो कोई आश्चर्य की बात न हो। परन्तु जब सुशिक्षित घरों में कलह और मानसिक रोगों की वृद्धि देखी जाती है, तब मन को भारी संताप होता है। माता-पिता अपनी संतानों का जीवन भला बनाने के लिए ही उन्हें इस तरह की परिस्थिति में रखते हैं कि इसके कारण उनके चरित्र का विकास न होकर और वे स्वस्थ और उपयोगी नागरिक न बन कर क्रूर-कर्मा, आलसी और रोगी व्यक्ति बनकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये अपने माता-पिता को बुढ़ापे में सुख न देकर उन्हें अपने आचरण से दुःखी ही करते हैं। हाल ही में हमारे उपचार में आए चार-पाँच मानसिक रोगियों का उल्लेख आवश्यक है।

पहिला उदाहरण एक ऐसे नवयुवक का है, जिसको अनेक प्रकार के शारीरिक रोग आज से सात वर्ष पहिले से ही होते आए हैं। अब इसकी उम्र चौबीस साल की हो गई है। अपनी रुग्नावस्था में ही इसने कालेज की सभी परीक्षाएँ पास कीं। इसे रोग किशोरावस्था के प्रारम्भ से ही हुआ था। उस समय यह युवक बड़ा रूपवान, सुशील और पढ़ने में प्रथम श्रेणी का व्यक्ति था। इसका आचरण सभी लोगों के लिए आदर्श था। यह बालक ऊपर से तो पिता का आज्ञाकारी था, परन्तु भीतर से वह पिता से बहुत ही डरता था। बालक के पिता एक बड़े सुयोग्य अध्यापक थे और यदि कोई स्कूल बिगड़ जाए, तो वहाँ वे ही भेजे जाते थे। वे अपने समय के नामी हेड मास्टरों में थे। उनके तीन लड़के हैं और तीनों लड़कों को उन्होंने बड़े ही कठोर अनुशासन में रक्खा। उनमें किसी प्रकार की लत न लग जाए, इसलिए उन्हें अपने साथियो से मिलने-जुलने में नियंत्रण रक्खा गया। तीनों लड़कों में बीड़ी-सिगरेट पीने, सिनेमा जाने या आवारागर्दी करने की आदत नहीं लग पाई। लड़कों के प्रति पिता की नियत बहुत अच्छी थी। परन्तु इस भलाई का परिणाम पिता के लिए सुखद न होकर दुःखद ही हुआ। अँग्रेजी में कहावत है कि मनुष्य के भले

इरादे भी उसे नरक में ले जाते हैं। यह कहावत इन बालकों के पिता के जीवन में पूरी तरह से चरितार्थ हुई।

इस परिवार के छोटे लड़के को अपने जीवन से असंतोष रहता था। जब वह तेरह-चौदह वर्ष का था, तब उसने इस असंतोष की पूर्ति राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ का सदस्य बनकर की। इस प्रकार की संस्थाओं से पिता को बड़ी चिढ़ थी। पर पुत्र इस संस्था में रहना अपना कर्तव्य समझता था। अतः पिता-पुत्र में आन्तरिक संघर्ष बना ही रहा। पुत्र के आचरण में पिता को सन्देह होने लगा, जिससे पुत्र का द्वेष भी बढ़ता गया। ऐसी मानसिक स्थिति तब तक बनी रही, जब तक राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-संघ पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। इस संस्था पर सरकारी प्रतिबन्ध लगने के बाद पिता-पुत्रके संघर्ष ने दूसरा ही रूप धारण किया।

अब युवक को बाहरी लोगों की स्नेह-प्राप्ति का कोई साधन नहीं रह गया। जो स्नेह युवक को संघ-संचालक से मिलता था, उसका मिलना बन्द हो गया। उसे दिन भर कालेज अथवा घर में रहना पड़ता था। उसके पिता अब सरकारी नौकरी से अवकास ग्रहण कर चुके थे। अतएव उनका दिन भर काम यही रह गया कि इस छोटे लड़के की देख-भाल सब तरह से करें। जिस व्यक्ति की देख-भाल दिन भर की जाती है, उसके आचरण में हमें हजारों दोष भी दिखाई देने लगते हैं, और जिसे दिन भर सुधारा जाए, उसके समान अभागा व्यक्ति जगत में और कौन हो सकता है। बालक को भूल करने का अवसर देना और किशोरावस्था में स्वतंत्र-निर्णय के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना बालकों के चरित्र-निर्माण के लिए जितना आवश्यक है, उतना उन्हें सदा सुधारते रहना आवश्यक नहीं है।

जिस किशोर को दिन भर सुधारा जाता है, उसका सुधार होना असंभव कार्य है। ऐसा व्यक्ति अपने आप में विश्वास खो देता है, और जिस व्यक्ति का आत्म-विश्वास गया, उसके केवल चारित्रिक गुण ही नहीं, अपितु, उसकी स्मरण-शक्ति और बुद्धि का भी ह्रास हो जाता है। आत्म-विश्वास खोया हुआ व्यक्ति अपने आपको बार-बार कोसता है। वह अपने आप को दोषों का पिटारा मान बैठता है। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार के असाध्य मानसिक और शारीरिक रोग हो जाते हैं।

उक्त नव युवक के जीवन में यही घटित हुआ। युवक को बड़ी ही देख-भाल के साथ रक्खा गया। अतएव उसके ऊपरी आचरण में पिता के प्रति द्वेष का सुधार हो गया; परन्तु भीतर से उसका आत्म-विश्वास भी खोखला हो गया। उसमें कुछ काम-कुटेव अनायास लग गए। फिर वह बाजार की कुछ

ऐसी चीजें खा लेता, जिससे उसका पेट खराब होने लगा। इन दोनों बातों के लिए यह युवक अपने को बहुत कोसता था, फिर भी वह इन्हीं में लगा रहता था। इस तरह आत्म-भर्त्सना से एक ओर उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो गई और दूसरी ओर उसका स्वास्थ्य भी गिर गया। उसके गिरे हुए स्वास्थ्य को देखकर उसके पिता-माता चिन्तित रहने लगे। अब वे उसके आचरण-सुधार के विषय में चिन्तित न रह कर उसके स्वास्थ्य-सुधार के विषय में चिन्तित रहने लगे। वे जब-जब इस युवक के स्वास्थ्य की आलोचना करते, तब-तब इस युवक को बड़ा ही धक्का लगता था। उसके गिरे हुए स्वास्थ्य का सम्बन्ध उसके काम-कुटेव और खाने की आदत से था। अतएव उसे अपने स्वास्थ्य की आलोचना सुनकर बहुत दुःख होता था। इस दुःख को मनाते-मनाते उसका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। बड़ी प्रयत्न से जब काम-कुटेव की आदत छुटी, तो उसे स्वप्न-दोष होने लगा और बाजारु चीजें खाने के कारण उसकी पाचन-शक्ति बिगड़ गई। आज सात वर्ष से उसके पिता-माता इसकी पाचन-शक्ति को सुधारने के लिए चिकित्सा कराते रहते हैं। परन्तु जैसे-जैसे चिकित्सा होती जाती है, तैसे-तैसे उसका रोग स्थायी बनते जा रहा है। जब कभी यह नव युवक डाक्टर की दवा से कुछ अच्छा होता है, तभी यह अपने पिता से छिपकर पास की दुकान से कुछ ऐसी चीजें खा लेता है, जिससे उसका पेट खराब हो जाता है; मानो वह आन्तरिक मन से चाहता है कि वह सदा रोगी ही बना रहे।

युवक के पिता अब इस बालक के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सदा चिन्तित रहते हैं। इधर उनकी चिन्ता का एक कारण और बढ़ गया है। युवक के बड़े भाई, जो इञ्जीनियरिंग की अच्छी शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं, अपने आफिसर से झगड़ा करके और अपनी नौकरी छोड़कर घर आ गए हैं। ये आज दो साल से घर पर ही हैं। घर के रोजगार में वे भाग लेते हैं। इस रोजगार को पहिले अकेले पिता सम्हालते थे। अब इसे तीन व्यक्ति सम्हालते हैं। इस कार्य में बड़े भाई और पिता से बात-बात में झगड़ा होता है। किसी बात पर चिढ़ जाने से बड़े भाई पिता को पीट भी देते हैं। इससे छोटे भाई को बड़ा ही दुःख होता है। कभी-कभी उसे बीच-बचाव करना पड़ता है और कभी स्वयं भी चोट खानी पड़ती है। छोटा भाई अपने पिता का ही पक्ष लेता है। परन्तु बड़ा भाई भी इस छोटे भाई को मानता है। इधर बड़े भाई की स्त्री और युवक की माँ के बीच भी सास-बहू का कलह होते ही रहता है। इसके कारण घर का वातावरण इतना विषाक्त हो गया है कि वहाँ यह सुशील नययुवक थोड़े समय के लिए भी रहना नहीं चाहता। परन्तु अपने रोग के कारण उसे ठहरना ही पड़ता है।

अपने पिता के प्रति इस युवक का स्नेह और द्वेष दोनों का ही मिश्रित व्यवहार है। इस द्विविधात्मक मनोवृत्ति को अँग्रेजी में 'एम्बेवलेन्ट' मनोवृत्ति कहा जाता है। सभी मानसिक रोगों में यह मनोवृत्ति वर्तमान रहती है। उनकी गति साँप-छछून्दर जैसी रहती है। वे अपने सम्बन्धियों को न तो पूरा प्यार ही दे सकते हैं, और न उनका त्याग ही कर सकते हैं। वे रोगी बनकर अपने प्रति बचपन में किये गए व्यवहार का बदला अपने अभिभावक से लेते हैं। जब रोगी बनकर व्यक्ति अपने माता-पिता से बदला नहीं लेता, तब वह कभी-कभी तोड़-फोड़ या मार-पीट करके बदला लेता है। इस प्रकार का तोड़-फोड़ और मार-पीट करना भी एक प्रकार का पागलपन होता है। बहुत से अपराधी इसलिए अपराध नहीं करते कि उन्हें किसी विशेष वस्तु की अभिलाषा है, वरन् वे किसी विशेष व्यक्ति या समाज-द्वारा किए गए अन्याय का बदला ध्वंसात्मक कार्य से लेते हैं। यदि इन अपराधियों को इस प्रकार के कार्यों से रोक दिया जाए, तो वे मानसिक या शारीरिक रोगी बन जाएँ।

उपर्युक्त दो युवकों के उदाहरण में देखा जाता है कि बड़ा युवक पिता-माता से झगड़ा करके, उनसे हाथा-पाई करके उनके प्रति अपने बचपन में किए गए दोषों का बदला लेता है और दूसरा रोगी बनकर। दोनों ही ऐसी अवस्था में हैं कि वे अपने पिता-माता को नहीं छोड़ सकते। बड़ा भाई किसी-न-किसी बहाने पिता के पास ही बना रहता है और छोटे को रोग के कारण पिता नहीं छोड़ना चाहते। बड़े भाई को पहिली नौकरी छोड़ने के बाद बहुत सी नौकरियाँ मिलीं, परन्तु कहीं पर भी वह दो-तीन महीने से अधिक नहीं ठहर सका। जिन व्यक्तियों के आन्तरिक मन में पितृद्वेष की मानसिक ग्रन्थि रहती है, वे अपने से उच्च पदाधिकारियों से बहुत जल्द ही झगड़ा कर लेते हैं। अपने आफिसर के प्रति द्वेष-भाव का बना रहना पितृ-द्वेष की मनोवृति का स्थानान्तरण मात्र है। जिन बालकों को पिता का सच्चा प्रेम बचपन में मिला है, वे ही अच्छे विनयशील नागरिक और राजकर्मचारी बनते हैं।

जो स्थिति उपर्युक्त एक परिवार में देखी गई, वही स्थिति भारतवर्ष के अनेक दूसरे परिवारों में भी वर्तमान है। कभी-कभी इतना ही फर्क होता है कि मार-पीट करके पिता को ताड़ना देनेवाला युवक एक घर में होता है और रोगी बनकर पिता को ताड़ना देनेवाला युवक दूसरे घर में। लेखक हाल ही में अपने एक पुराने परिचित युवक के बुलाने पर एक अन्य प्रान्त में गया। यह युवक इस समय कान से बहरा और एक आँख से दृष्टि-हीन हो गया है, रात के समय यह घर से बाहर निकल भी नहीं सकता है। अन्धकार होते ही उसके पैर लड़खड़ाने

लगते हैं। अपनी आजीविका कमाना इसके लिये अत्यन्त कठिन हो गया है। आज से चार वर्ष पूर्व इसे डाक्टरों के कथनानुसार क्षय रोग हो गया था। यह रोग इतना भयानक था कि डाक्टरों ने बताया था कि उसका अधिक दिनों तक जीना सम्भव नहीं था। जब मरना निश्चित समझ लिया गया, तो युवक ने डाक्टरी दवाई का सेवन करना बन्द कर दिया और अपने मन के अनुसार ही अपनी दवाई और भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। अपने रोग के कारण उसे अपनी नौकरी छोड़ देनी पड़ी थी। वह एक मिडिल स्कूल का अध्यापक था और इस आमदनी से स्त्री एवं दो बालकों का पालन करता था। इसकी बीमारी के समय इसके पिता सरकारी नौकर थे। अतएव परिवार का खर्चा चलते जाता था। जब यह रोग से अच्छा हुआ, तब उसके पिता की नौकरी छुट गई और उन्हें थोड़ी-सी पेन्सन मिली। इधर युवक की चिकित्सा कराने में पिता का इतना पैसा खर्च हो गया कि परिवार का खर्चा चलाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं बचा। जब वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, तो उसे दिन-प्रति-दिन पिता-माता के ताने सुनने पड़ते थे। वह जहाँ कहीं नौकरी के लिए चेष्टा करता, तो इन्टरव्यू में बुलाए जाने पर असफल ही रहता था। इस प्रकार की असफलता के कारण वह हताश हो गया। उसके मन में आत्म-हत्या के भाव आने लगे। उसके घर में खेती होती थी, पर उसका भी साधन उसके पास नहीं था। इस प्रकार की घोर चिन्ता में कई दिनों तक रहने पर उसे एकाएक भारी सिर की पीड़ा हुई और साथ-ही-साथ आँखों से कम दीखने लगा। अब उसके पिता को नई चिन्ता सवार हुई। जो कुछ पैसा बचा था, वह भी खर्च हो गया, परन्तु सिर की पीड़ा न गई। चिकित्सा करते-करते एक आँख में सफेदी आ गई। इधर उसके कान भी बहरे पड़ गए। अब सब समय उसके कानों में गुन-गुनाहट की आवाज आती रहती है। इस समय भी उसे सिर में चक्कर आता है और वह दूर तक चल नहीं पाता है। लेखक ने इस रोगी की दुःखात्मक गाथाओं को सुना और उसे कुछ प्रोत्साहित किया। इस प्रोत्साहन के परिणाम-स्वरूप उसने स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड में एक क्लर्क की नौकरी स्वीकार कर ली। यह इस काम को बहुत कुछ ठीक से कर लेता है और नगर के लोगों की दया के कारण अपने पद पर बना हुआ है। इस युवक के मन में आज भी अपने पिता के प्रति द्वेष-भाव बना हुआ है। उसके कथनानुसार उसके पिता बड़े ही हठी व्यक्ति हैं और उनके हठ के कारण ही परिवार दयनीय अवस्था में आ गया है।

जिस समय लेखक इस व्यक्ति को देखने उसके घर गया था, उसी समय एक

दूसरा नवयुवक एक साल से ऐसे-ऐसे रोगों से पीड़ित है, जिसका पता डाक्टर लोग नहीं लगा पाते हैं। उसे सब समय आलस्य और उदासीनता छाई रहती तथा भोजन हजम नहीं होता। उसकी स्त्री भी रुग्नावस्था में थी। रोग का कारण खोजने से पता चला कि घर में सास-वहु को नहीं पटती। सास बात-बात में बहू की आलोचना करती है। इससे युवक का मन सदा दुःखी बना रहता है।

दूसरी ओर आज से कुछ समय पूर्व पिता-पुत्र का इतना झगड़ा होता था कि आपस में मार-पीट तक हो जाती थी। पैत्रिक व्यवसाय वाणिज्य था। इन लोगों की दूकान बाजार में है। यह झगड़ा प्रायः दुकान पर ही होता था, जो बाजार के लिए तमाशा हो जाता था। यह युवक पढ़ा-लिखा व्यक्ति है। अतएव अपने झगड़े को तमाशे के रूप में देखकर उसे बड़ी आत्मग्लानि होती रही। बाप से झगड़ा करने के कारण उसे अड़ोस-पड़ोस के लोग भी कोसते थे और अपनी स्त्री के प्रति सहानुभूतिशील होने के कारण उसकी माँ उसे कोसती थी। अतः रोगी बनने के अलावा जीने का उसे कोई सहारा ही न रह गया। परन्तु अब वह रोगी बनकर भी अपने प्रति किए अन्याय का बदला अपने अभिभावकों से ले रहा है।

पिता-पुत्र और सास-बहू के झगड़े का कारण एक प्रकार का सौतिया डाह होता है। पुत्र के हो जाने पर स्त्री का प्रेम पति की अपेक्षा पुत्र पर अधिक जाने लगता है। इससे पिता के अनजाने ही उसके अचेतन मन में पुत्र के प्रति ईर्ष्या का भाव जागने लगता है। दूसरी ओर पुत्र भी माँ पर विशेषाधिकार प्राप्त करना चाहता है और इस कार्य में उसे पिता की ओर से बाधा पड़ती है। अतः पुत्र भी अपने पिता को अपना प्रतिद्वन्दी मान बैठता है। यही कारण है कि पिता पुत्र में दोष-ही-दोष पाता और उसे हर प्रकार से शिक्षित करने की चेष्टा में लगा रहता है, पर इसका परिणाम उल्टा ही होता है। जो पिता लड़के के विषयमें बराबर चिन्तित रहता है और उसे निरंतर सुधारनेकी चेष्टा किया करता करता है वह वस्तुतः अपने विषय में ही चिन्तित रहता है और अपनी गलतियों को पुत्र पर आरोपित कर अपना ही सुधार करना चाहता है। सास-बहू की स्थिति भी इसी प्रकार की होती है! माता चाहती है कि पुत्र पर उसी का एक मात्र साम्राज्य हो, क्योंकि पुत्र का पालन-पोषण उसने ही किया है, न की बहू ने। उधर पत्नी जब माँ-बाप को छोड़ पराये घर में आई है, तो उसे किसी एक व्यक्ति का विशेष प्रेम तो चाहिए ही और यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए, तो पत्नी की ओर पुत्र का विशेष झुकाव होना समीचीन और साधारण-सी बात है। जब घर में पत्नी आ गई हो, तो लड़का यदि पत्नी को प्रेम न कर माँ का

प्रेम पात्र बना रहना चाहता है, तो समझना चाहिए कि उसका मानसिक विकास उचित रीति से नहीं हुआ तथा वह मानसिक रोगी है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से अनभिज्ञ रहने के कारण भारतीय माता-पिता व्यर्थ ही तिल का ताड़ बना कर वातावरण को विषक्त बना देते हैं। यदि पति-पत्नी में स्वच्छ प्रेम न हो, तो वे दोनों ही शरीर और मन से बराबर रुग्ण रहते हैं। उनके बच्चे होते ही अथवा होते भी हैं; तो बरावर अस्वस्थ बने रहते हैं या मर जाते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से एक बात यह प्रतक्ष होती है कि मनुष्य वहरा, अन्धा और क्षय-रोग से भी इसलिए ग्रसित हो जाता है कि वह ऐसे वातावरण में पड़ गया है, जहाँ उसका जीवन ही उसे भार-रूप हो गया है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को हमें हर समय देखना पड़े, जिसे हम देखना नहीं चाहते; तो हम अन्धे हो जाते हैं। यदि हमें कुछ लोगों की कटु आलोचना बार-बार सुननी पड़े और बहरे हुए विना इस आलोचना से हम बच न सकें, तो हम बहरे भी हो जाते हैं। यदि हम क्षय का रोगी बनकर ही दूसरों के घातक शब्द-प्रहारों से बच सकते हैं, तो हम क्षय का रोगी भी बन जाते हैं। इस तरह हमारे बहुत से शारीरिक रोग हमारी उस मानसिक उलझन से हमें मुक्त करती हैं; जिसमें अधिक देर तक रहने पर हम आत्महत्या ही कर डालेंगे। एक तरह से मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोग उसकी मानसिक समस्याओं को हल करते हैं और उसके आन्तरिक मन-द्वारा आमन्त्रित रहते हैं। यही कारण है कि अप्रिय परिस्थिति में पड़े हुए व्यक्ति किसी-न-किसी रोग से पीड़ित हो ही जाते हैं। जब रोग की चिकित्सा होती है, तब वे अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी कोई ऐसे कार्य कर डालते हैं, जिससे चिकित्सक का प्रयास व्यर्थ हो जाता है और वे रोगी ही बने रहते हैं। आन्तरिक मन से दुःखी व्यक्ति के लिए रोग जीवन का सहारा है। इसके अभाव में उसकी मृत्यु निश्चित है। इस तरह प्रकृति बहुत से लोगों के लिए रोग रक्षक के रूप में भेजती है। जब तक आन्तरिक संघर्ष का अन्त नहीं होता, तब तक यह रोग नहीं जाता। इस बात का ज्ञान प्रत्येक शारीरिक चिकित्सक को होना नितान्त आवश्य है।

———

हमारे मन की अलौकिक शक्तियाँ

मनुष्य की शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक साधारण अथवा लौकिक और दूसरी असाधारण अथवा अलौकिक। मनुष्य अभ्यास के द्वारा इन दोनों प्रकार की शक्तियों को बढ़ा सकता है। मनुष्य की साधारण शक्तियाँ चित्त की एकाग्रता, धारणा-शक्ति की प्रवीणता, स्मरण-शक्तिकी तीव्रता, बुद्धि की प्रखरता और इच्छा-शक्ति की दृढ़ता है। इन सभी शक्तियोंको बढ़ाने के लिए मनुष्य को दो प्रकार के अभ्यास करने पड़ते हैं, एक जान-बूझकर इन शक्तियों का व्यायाम करना और दूसरे, शरीर और मन की शिथिलीकरण की अवस्था में उन शक्तियों के बढ़ने के लिए आत्मनिर्देश देना। पहले प्रकार का अभ्यास हमारे विद्यालयों में विद्यार्थियों के द्वारा कराया जाता है। दूसरे प्रकार के अभ्यास के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक की देख-रेख और सलाह की आवश्यकता होती है। अपने चेतन मन की शक्तियों को बढ़ाना अर्थात् साधारण मानसिक शक्तियों को अधिक-से-अधिक विकसित करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। हर एक सुन्दर शिक्षाप्रणाली का यही उद्देश्य होता है।

जहाँ तक अलौकिक अथवा असाधारण मानसिक शक्तियों की बात है, इन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करना खतरे से खाली नहीं है। अलौकिक शक्तियाँ वे हैं, जिन्हें प्राप्त करके हम कुछ ऐसी बातें कर सकते हैं; जिन्हें भौतिक विज्ञान की प्रणाली से समझाया नहीं जा सकता। मनुष्य के मन में ऐसी शक्तियाँ हैं इसमें किसी भी गम्भीर चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ मनुष्य अपने मन में ऐसी शक्ति को विकसित कर सकता है कि उसकी आँख पर पट्टी बँधी हो और वह किसी गाँव की सभी गली-कूचो में घूम जाय। आज से बीस वर्ष पूर्व लेखक के एक छात्र ने कालेज की बिदाई के समय ऐसा ही एक चमत्कार दिखाया था। उसकी आँख पर पट्टी बाँध दी गई थी। फिर उसके पीछे दस फुट की दूरी पर रक्खे हुए एक श्यामपट पर कालेज के प्रिंसिपल ने कुछ वाक्य अँग्रेजी में लिखे। इन वाक्यों को इस विद्यार्थी ने ठीक जैसे-के-तैसे पढ़ दिया। यहाँ इस विद्यार्थी की अलौकिक शक्ति के विषय में संदेह का कोई स्थान ही न था। यह विद्यार्थी लेखक का भली प्रकार से जाना-पहचाना व्यक्ति था। वह लेखक द्वारा साल भर तक पढ़ाया गया था। उसकी आँख पर पट्टी कालेज के एक अध्यापक ने ही बाँधी थी। श्यामपट उसके मुँह की ओर न रहकर पीठ की ओर था। श्यामपट पर लिखा गया वाक्य उसके किसी साथी के द्वारा न लिखा होकर कालेज के प्रिंसिपल के द्वारा लिखा गया था। वाक्य भी ऐसा

नहीं था, जिसके विषय में वह विद्यार्थी अंदाज लगा सके। वाक्य पढ़ने में उसने एक भी शब्द की गलती नहीं की। जब विद्यार्थी लेखक से विदाई ले रहा था तब लेखकने इस अलौकिक शक्ति के रहस्य के विषय में पूछा; तो उसने यही कहा कि चित्त की एकाग्रता के अभ्यास से मनुष्य को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में चलने-वाले विचारों का पता चल जाता है। उसने आगे यह भी कहा कि आपके चित्त की एकाग्रता का अभ्यास बहुत अच्छा है; अतः आप शीघ्र ही इस शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन में चलने वाले विचारों को हम अपने अलौकिक प्रयास से जान सकते हैं, उसी प्रकार भविष्य में होने वाली घटनाओं की रूप-रेखा हमें ज्ञात हो सकती है। इस प्रसंग में काशी मनोविज्ञानशाला में हिन्दूस्कूल के भूतपूर्व हेड मास्टर डा० ओटो उल्फ द्वारा दिया गया भाषण, जो मनोविज्ञान के मार्च १९५२ के अंक में प्रकाशित हुआ है, उल्लेखनीय है। 'भविष्य में होनेवाली घटनाओं का चित्र कभी-कभी मनुष्य के मन में उसके जाग्रत अथवा स्वप्न की अवस्था में उसी प्रकार आ जाता है, जिस प्रकार वह बाद को घटित होती हैं। जिन लोगों से हमारा विशेष स्नेह होता है, यदि उनके जीवन में कोई दुर्घटना होने वाली है, तो उसका चित्र हमारे अचेतन मन में आ जाता है। यदि किसी व्यक्ति का मन निर्मल है, तो यह घटना दिवा-स्वप्न में चित्रित हो जाती है। मेरी माता के जीवन में होनेवाले इस प्रकार के दो एक अनुभव उल्लेखनीय हैं। एक बार मेरी माँ ने देखा कि एक नवयुवक, जो उस समय फौज में काम कर रहा था, एक इन्जन के पास असावधानी की अवस्था में खड़ा है। इसी बीच इन्जन फट पड़ा और नवयुवक को बहुत चोट लगी। मेरी माँ इस नवयुवक को स्नेह की दृष्टि से देखती थी। उसने तुरंत ही उस युवक को बुलाया और अपना स्वप्न सुनाकर उसे भावी दुर्घटना के विषय में सचेत कर दिया। इसके तीन माह पश्चात यह युवक वास्तव में एक मशीन के पास खड़ा काम कर रहा था, उसी समय उसे कुछ विलक्षण सी आवाज सुनाई दी। मेरी माँ की कही बात उसे याद आ गई और वह मशीन से दूर भागकर मकान से बाहर चला आया। जब वह मकान के बाहर आया ही था कि मशीन फट गई।

इसी प्रकार एक बार माँ ने स्वप्न में देखा कि दूध की गाड़ी ले जानेवाले घोड़े पागल हो गए हैं और वे गाड़ी को इधर-उधर दौड़ाने लगे। इस गाड़ी में दूध बेचने वाला फँस गया और मरते-मरते बचा। माँ ने अपना स्वप्न जब दूसरे लोगों से कहा, तो वे हँसने लगे। परंतु वह नहीं मानी और उसने दूधवाले

को बुलाया और इस प्रकार की घटना से उसे सचेत किया। इस कथन के कुछ ही दिन बाद स्वप्न में देखी गई घटना घटी और समय पर चेतावती मिलने के कारण दूधवाला अपनी जान बचा सका।'

डा० ओटो उल्फ ने कुछ उदाहरण देकर इसी व्याख्यान में यह भी बताया कि जिस प्रकार बिना किसी भौतिक साधन के हम दूसरे व्यक्ति के मन के विचार जान सकते हैं और दूर की घटनाओं का ज्ञान कर सकते हैं, उसी प्रकार अपने प्रिय व्यक्ति के संबंध की बातें भी हमें ज्ञात हो जाती हैं। कभी-कभी जानवरों के मन की बातें भी उनको प्यार करने वाले स्वामी जान लेते हैं। डा० ओटो उल्फ ने अपने बचपन की कुछ घटनाओं का वर्णन करते हुए बताया—'मैं कभी-कभी रात को देर करके घर लौटता था। मैं अपने कमरे की ताली कभी-कभी किसी जगह रख देता था, जहाँ मेरा हाथ नहीं पहुँचता था। एक दो बार मुझे अपने घर के दरवाजे पर देर तक ठहरना पड़ा। इसी बीच मैंने कल्पना भी कि मैं सीढ़ी से चढ़कर दूसरी मंजिल पर पहुँच गया हूँ और वहाँ पर बरंडा पार करके अपनी माँ के कमरे की किंवाड़ खटखटाया हूँ और धीरे-धीरे माँ-माँ कहता हूँ। इस कल्पना का परिणाम यह होता था कि मेरी माँ अपने बिस्तर से उठकर कमरे के बाहर जाती और सीढ़ी से उतर कर नीचे किवाड़ खोल कर देखती और वहाँ उसे मैं खड़ा मिलता।

अभी हाल की बात है कि एक दिन मैं अपने कमरे में किसी फाइल को ढूँढ़ने को गया। जब मैं कमरे के बाहर आया तो अनायास मुझे पीछे हटकर देखने की प्रेरणा हुई। मैंने देखा कि कमरे के दरवाजे में अधर पर मेरा कुत्ता टँगा हुआ है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कि कुत्ता अधर में कैसे टँग गया। मैं जग रहा हूँ कि सो रहा हूँ। फिर विचार आया कि कुत्ते को ढूँढूँ कि वह कहाँ है। कुत्ता घर में नहीं दिखाई दिया। इसी बीच एक बंद आल्मारी से कुछ आवाज सी आई। उसे खोलकर देखा तो कुत्ते को बंद पाया। पीछे मालूम हुआ कि जब आल्मारी खुली थी, तो कुत्ता उसमें बैठ गया था और कुछ दूसरी बातों में ध्यान फँसे रहने के समय ही आल्मारी का ताला बंद कर दिया गया था। बाद में अल्मारी में बैठा कुत्ता जब घबड़ाने लगा, तो सम्भवतः उसने अपने विचार अपने मालिक तक भेजे। इसी के कारण कुत्ता एक दिवा-स्वप्न में दरवाजे में टँगा हुआ दिखाई दिया।'

दूर की घटनाओं को जान सकने के दो उदाहरण डा० विलियम ब्राउन ने 'साइकॉलाजी एण्ड साइकोथेरापी' नामक पुस्तक में दिए हैं। पहला उदाहरण स्विदेनउडों का है। एक बार स्विडबोर्ग इमेलकुए कांट के साथ बर्लिन की एक

पार्टी में बैठे हुए थे। इसी समय वे अचानक कुछ बेचैन से हो गए। कुछ देर बेचैन रहने के बाद वे शांत हो गये। वहाँ पर उपस्थित लोगों ने जब उनकी बेचैनी और फिर शांत होने का कारण पूछा, तो उन्होंने बताया कि स्टॉकहोल्म में आग लग गई थी और वह उनके मकान के पास आ गई थी। इसीलिए वे बेचैन हो गए थे। परंतु उनके मकान में लगने के पूर्व ही आग बुझा दी गई। इसलिए वे शांत हो गए। इस घटना का जब पता चलाया गया, तो बात सच्ची निकली। इसका वर्णन कांट ने अपनी आत्मजीवनी में दिया है। दूसरी घटना डा० विलियम ब्राउन-द्वारा दिए गए सैनिक की है। इस सैनिक को फ्रांस के एक अस्पताल में सम्मोहन की अवस्था में लाकर अपने घर का ध्यान करने को कहा गयी और वहाँ जो कुछ उस समय हो रहा उसका वर्णन करने को कहा गया। उस सैनिक ने जो वर्णन किया उसकी पीछे खोज की गई, तो सब बातें सत्य पाई गईं।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को क्या अपने मन की ऐसी अलौकिक शक्तियों को भी जाग्रत करना चाहिए, जिनसे वह दूसरे व्यक्ति के मन की बात जान ले, दूर की घटनाओं का ज्ञान कर ले और आगे होने वाली घटनाओं का भी दिग्दर्शन कर ले। इस विषय में हमें आधुनिक मनोविज्ञान से जो प्रकाश मिलता है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। मनुष्य में ये अलौकिक शक्तियाँ उसकी सामान्य मानसिक अवस्था में नहीं आतीं। अलौकिक शक्तियाँ केवल मनुष्य के असाधारण मानसिक अवस्था में आती हैं। असाधारण मानसिक अवस्थामें मनुष्य की सामान्य चेतना और उसकी अंतः चेतना में विभाजन हो जाता है। इस प्रकार का विभाजन हिस्टीरिया के रोगमें प्रायः देखा जाता है। अतएव हिस्टीरिया के रोगी बहुत कुछ ऐसीं बातें कह देता है, जो सामान्य व्यक्ति नहीं जान सकते। कभी-कभी उसकी भविष्यवाणी ठीक हो जाती है। कभी वह किसी व्यक्ति की छिपी बात को बता देता है और कभी दूर की बातों को कह देता है। परंतु इन सब बातों के करने पर उसका अधिकार नहीं रहता है। ये सब अनायास या उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी होती हैं। इसीलिए हिस्टीरिया के रोगी के विषय में कहा जाता है कि उसके शरीरं में कोई विशेष प्रकार के भूत-प्रेत की शक्ति है। मनुष्य की अन्तःशक्ति उसकी सामान्य चेतना शक्ति से कहीं अधिक होती है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य में यह भूत-प्रेत की शक्ति उसके अचेतन मन की शक्ति ही है, जो भूत-प्रेत की कल्पनाओं में आरोपित होकर प्रकाशित होती है। जिस शक्ति की उपस्थिति मनुष्य की चेतना साधारण नियमों के परे देखती है, उसके आने के लिए किसी असाधारण तत्व की कल्पना ही करनी पड़ती है।

जिस प्रकार हिस्टीरिया के रोगियों में मानसिक विभाजन की अवस्था उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही उत्पन्न होती है, उसी तरह यह अवस्था अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपनी इच्छा से भी कर सकता है। इसका उदाहरण ओझाओं और भूत-प्रेत बुलानेवाले प्लान्चेत के खेल दिखलानेवालों में पाया जाता है। अपने मन और शरीर के शैथिलीकरण की अवस्था में यदि मनुष्य किसी विशेष प्रकार की शक्ति आने की कल्पना करे, तो वह इस शक्ति को कुछ दिन के अभ्यास के बाद पा लेता है। इस शक्ति को सामान्य चेतना की शक्ति नहीं कहा जा सकता। अतः इस प्रकार का अभ्यास करनेवाले लोग ऐसी शक्ति को देवी-देवता आदि की शक्ति कहते हैं। ओझा लोगों में उसी प्रकार का मानसिक विच्छेद हो जाता है, जैसा हिस्टीरिया के रोगियों में होता है। परन्तु जहाँ पहले प्रकार का मानसिक विच्छेद व्यक्ति की इच्छा के प्रतिकूल होता है, वहाँ दूसरे प्रकार का विच्छेद उसकी इच्छा से होता है। इसका निश्चित समय और स्थान भी होता है। अब यदि इस प्रकार का विच्छेद कोई व्यक्ति बार-बार करने लगे और इससे वह विशेष प्रकार का लाभ उठाने लगे, तब उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी यह विच्छेद होने लगता है। इस तरह भूत-प्रेत को बुलानेवाले और देवी-देवताओं का चमत्कार दिखानेवाले व्यक्ति अपने जीवन में सुखी न रहकर दुखी हो जाते हैं। उनके भूत-प्रेत और देवी-देवता उनका लाभ न कर उनकी हानि ही करने लग जाते हैं। ऐसे लोगों को विशेष प्रकार का टोना-टोटका जबर्दस्ती करना पड़ता है।

इस तरह मनुष्य की ये अलौकिक शक्तियाँ उसकी आत्मा का प्रसार न कर उसे अन्धकार में ही डालती हैं। इसीलिए पुराने योगियों ने इन अलौकिक शक्तियों को प्रादुर्भूत करने के प्रति साधकों को सचेत किया है। इन ऋद्धियों-सिद्धियों को जगाकर मनुष्य आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है और इनसे वह स्थायी लाभ प्राप्त न कर हानि ही प्राप्त करता है। मनुष्य की सबसे बड़ी हानि अपनी सामान्य चेतना को खो देना है। जो चेतना सभी प्राप्तियों का मूल्यांकन करती है—यदि हम उसी को खो दें, तो हमारे पास रह ही क्या जायगा ?

मनुष्य अपनी चेतना का प्रसार करके ही अपने आप में वास्तविक अलौकिक शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है। चेतना का प्रसार चेतना को हटाकर नहीं हो सकता। जैसे कि हिस्टीरिया के रोगियों में अथवा देवी-देवताओं के साधको की मानसिक अवस्था में होता है; इन लोगों में सामान्य चेतना हटाकर दूसरी चेतना आ जाती है। इससे व्यक्ति का कोई लाभ न होकर उसकी हानि होती है। यदि मनुष्य अपनी सामान्य चेतना को उसकी समकक्षी दूसरी चेतना

के बदले न छोड़े, वरन् उसे एक महान चेतना से मिला दे; तो एक ओर उसकी सामान्य चेतना का लोप हो जायगा और दूसरी ओर उसका असीम प्रसार भी हो जायगा। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब मनुष्य चेतना में सीमा उत्पन्न करनेवाली सभी प्रकार की वासनाओं का चाहे वे चेतन मन में उपस्थित हों अथवा अचेतन मन में—परित्याग करने में समर्थ हो। यह कार्य अत्यन्त कठिन है। जबतक मनुष्य पूर्णतः निरीह नहीं हो जाता, तबतक उसके व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ उसका लाभ न कर अन्त में हानि ही करती हैं। कहा जाता है कि ईश्वर की शक्तिका उपयोग ईश्वर ही कर सकता है। अलौकिक शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियाँ हैं। जब हम अपने आपको आध्यात्मिक तत्व से मिला देते हैं, अर्थात् जब हमारी अपनी कोई इच्छा ही नहीं रह जाती; तभी हमारे व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ अपने आपका और लोक का कल्याण करती हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी अन्तरात्मा की समीपता पाता है, वह अपने आप में अलौकिक शक्तियों का उतना ही अधिक साक्षात्कार करता है। इसके लिए मनुष्य को मानसिक शुद्धि की आवश्यकता होती है, अर्थात् इसे एक ओर अपनी चेतन और अचेतन वासनाओं का त्याग करना पड़ता है और दूसरी ओर इस त्याग के अभिमान का भी परित्याग करना पड़ता है। जो अपने आपको शून्य रूप बना देता है, उसकी शक्ति असीम हो जाती है।

———

बालकों के सुधार-द्वारा आध्यात्म-लाभ

जीवन का सबसे बड़ा लाभ अथवा मूल्य आध्यात्म-लाभ ही है। आध्यात्म-लाभ का स्वरूप अपने मन का शोध है। मानसिक शक्तियों का शोध करने से हमारा व्यक्तित्व सुगठित होता है। जिसके व्यक्तित्व का एकीकरण हो गया है, वही शान्त और आनन्दित अवस्था में रहता है। इसके विपरीत विभाजित मन की अवस्था में व्यक्ति अन्तर्द्वंन्द्व से पीड़ित, अशान्त और अत्यन्त मानसिक क्लेश की अवस्था में जीवन बिताता है। अपने मन का एकीकरण करने के लिये हमें बाल-मन का अध्ययन करना, उसके स्वरूप और कार्यप्रणाली को समझना आवश्यक और बड़ा ही लाभदायक है।

संसार के बहुत से लोग अन्य कार्यों में इतने दत्त-चित्त रहते हैं कि वे अपने आपके अथवा अपने मन के विषय का चिन्तन ही नहीं कर पाते। अन्य बातों में बड़े समझे जाने और अवस्था में भी वृद्ध होने पर भी उनके भीतरी मन का विकास उचित रूप से नहीं हो पाता। कभी-कभी संसार के बड़े समझे जानेवाले और शास्त्रीय ज्ञान में पारंगत पंडितों की भी यही दशा रहती है। वे बुद्धि में प्रवीण और अनेक विषयों का विशेष ज्ञान रखकर भी अपने भीतरी मन से बच्चे ही बने रहते हैं। ऐसे लोगों की बौद्धिक शिक्षा तो पर्याप्त हो जाती है, पर हृदय प्राय: अशिक्षित ही रह जाता है। अतएव उनमें उच्चकोटि का बौद्धिक विकास होने पर भी भाव की प्रौढ़ता नहीं आती। भाव की प्रौढ़ता कोरे शास्त्रीय ज्ञान से ही नहीं आती? इसके लिये अपने मन के स्वरूप और उसकी कार्य-प्रणाली को समझना और उसकी कई प्रकार की समस्याओं पर गम्भीर विचार करना आवश्यक है।

हमारा भीतरी मन वासनामय रहा करता है। अन्य सांसारिक कार्यों में तन्मय रहने के कारण वह अविकसित अवस्था अथवा अपने बाल-स्वरूप में ही रह जाता है। जैसे-जैसे हमारा बौद्धिक-विकास होता है और अवस्था बढ़ती है, तैसे तैसे हमें कई प्रकार के उत्तरदायित्व सँभालने पड़ते हैं; पर भाव की प्रौढ़ता न होने के कारण हम अपना कर्त्तव्य उचित रूप से पूरा नहीं कर पाते। बच्चों का मन वासनामय रहता है। वे अपनी सभी इच्छाओंकी पूर्ति शीघ्र ही करना चाहते हैं। हमारा मन भी अविकसित अवस्था में रहने पर बालकों के समान ही रहता है। उसमें भी अनेक प्रकार की प्रबल वासनायें अपनी अविकसित अवस्था में ही रहकर अनेक प्रकार के उत्पात और अन्तर्द्वन्द्व मचाये रहती हैं। हमारे वासनामय-स्वत्व और बाल-मन में समानता है। वास्तव में बालक हमारे अचे-

तन मन का प्रतिबिम्ब-रूप ही होता है। अतएव अपने मन को सुधारने का बहुत अच्छा उपाय बालकों के मन का सुधार करना है।

माता-पिता और अभिभावकों के रूप में बालकों का भार देकर प्रकृति हमारे आध्यात्म-लाभ का मार्ग खोलती है और जब हम उत्तरदायित्व को उचित रूप से नहीं सँभालते; तो हम अपने कर्तव्य से विमुख तो होते ही हैं; साथ-साथ अपना आध्यात्म-कल्याण करने में भी असफल रहते हैं। जैसे-जैसे हम बालक के मन को सुधारने का प्रयत्न करते हैं; तैसे-तैसे हमारा मन भी सुधरता चला जाता है। बालक की चेतना में संगठन और एकीकरण करने के प्रयत्न में हमारी चेतना भी सुसंगठित हो जाती है।

वास्तव में बालकों का उचित-रीति से लालन-पालन और उनका सम्यक् मानसिक विकास करने में वे ही लोग सफल होते हैं, जिनका स्वयं अपना मन विकसित और संगठित है। जिनका मन अनेक प्रकार की मानसिक-ग्रन्थियों से आक्रान्त है और जिनके मन में अनेक प्रकार के मानसिक झंझट उपस्थित हैं, वे किसी भी बालक के सच्चे अभिभावक और शुभचिन्तक नहीं हो सकते। बात यह है कि ऐसे लोग अपने संरक्षण में रहनेवाले बालकों में भी वे झंझट पैदा कर देते हैं, जो स्वयं उनके मन में वर्तमान हैं।

हमारा जो व्यवहार अपने भोग-मय स्वत्व अथवा वासनाओं के प्रति होता है, वही बालकों के प्रति भी हो जाता है, क्योंकि बालक भी वासनामय होता है। भोग-वासनाओं के प्रति हमारा यदि बड़ी सख्ती का व्यवहार रहा, तो उसी प्रकार की कड़ाई हम बच्चों के व्यवहार के प्रति भी रखते हैं। जब हम इस प्रकार का कठोर दृष्टिकोण रखकर किसी दूसरे बालक अथवा अपने ही बच्चों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं, तो उनका कल्याण न करके अहित ही करते हैं। अव्यावहारिक आदर्श के कारण जो स्थिति और विच्छेद हमारे मन में रहते हैं, उसे हम बालकों में भी उत्पन्न कर देते हैं। बालकों में छोटी अवस्था में उच्च नैतिक आदर्शों पर चलने की शक्ति नहीं होती। नैतिक आदर्शों का विकास वांछनीय है, पर वह धीरे-धीरे ही अभ्यास से सम्भव है। इसके लिये हमें उनकी अवस्था और सामर्थ्य का ध्यान रखकर व्यावहारिक आदर्श उनके सामने रखना चाहिये, जिन पर चल सकने की क्षमता उनमें है; अन्यथा या तो हम उन्हें केवल आत्म-भर्त्सना करनेवाले, साधारण-सी भूलों के लिये अपने आपको बार-बार धिक्कारनेवाले बना देते हैं या फिर उद्दण्ड और आदर्श-हीन। इसके अतिरिक्त जब हम बालकों का अत्यधिक लाड़ करते हैं और उनकी अनुचित बातों को भी ठीक समझने का प्रयत्न करते हैं, तो बालक के सामने कुछ आदर्श ही नहीं रह

जाता। जब उसके सभी प्रकार की उचित-अनुचित इच्छाओं को छूट दे दी जाती है, तब बालक उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हो जाता है। बाद में ऐसे बालकों में अपराध की प्रवृत्ति हो जाती है और वे स्वयं हमारे व समाज के लिये बड़ी भारी समस्या हो जाते हैं। बच्चों को सन्मार्ग पर चलने का अभ्यास कराने में हमारे मन की भी शिक्षा होती है। उनको सुधारने में जो समस्या और कठिनाइयाँ हमें पड़ती हैं, उससे हमें अपने स्वयं के वासनामय स्वत्व के प्रति व्यवहार करने की शिक्षा मिलती है और उसे शिक्षित करने का मार्ग दृष्टिगत होता है।

बालक के मन की जटिल समस्याओं को सुलझाने में और विशेषकर जटिल बालकों के सुधार का प्रयत्न करने से हमें अपने मन की जटिलताओं अथवा उलझे मन का ज्ञान होता है। जैसे-जैसे हम बालकों के मन की गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयास करते हैं, तैसे-तैसे हमारे अन्तर्मन की गुत्थियाँ भी सुलझती जाती हैं। अतएव बालकों को मानसिक-ग्रन्थियों से मुक्त करने में हमें अपने मन की अनेक ग्रन्थियों का ज्ञान हो जाता है और हम उनसे अनायास ही मुक्तहो जाते हैं।

बालकों का सुधार करने के लिये उनसे स्नेह करना आवश्यक है। बिना स्नेह के हम बालक पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकते। बालकों से स्नेह करने से आत्म-मैत्री अथवा अपनी भोग-वासनाओं के प्रति भी हमारा मैत्रीभाव स्थापित हो जाता है। बालकों से प्रेम करना लाड़ से भिन्न वस्तु है। प्रेम में हमें बालक के कल्याण की दृष्टि रहती है, केवल उसको सभी उचित-अनुचित इच्छाओं की पूर्ति की नहीं। बालकों का सच्चा कल्याण उनकी मानसिक शक्तियों को अनुचित मार्गों से रोककर उचित दिशा में प्रवाहित करने में है, जिससे कि वे विकास के मार्ग में बाधक न होकर साधक बनें। बालकों की मानसिक शक्ति के उचित मार्ग से प्रवाहित करने के प्रयास में हमारे मन की शक्ति का प्रवाह भी उचित मार्ग से हो जाता है और हमें मन को गति-विधि तथा साथ ही उसपर संयम करने का ज्ञान होता है।

जब हम सच्चे मन से बालक को सुधारने का सहानुभूति-पूर्ण प्रयास करते हैं, तो बालक का सुधार तो होता ही है, साथ-साथ उससे हमारा भी कल्याण होता है। बालक की मानसिक शक्तियों का शोध करने के प्रयत्न के फल-स्वरूप हमारी मानसिक शक्तियों के शोध और एकीकरण का लाभ हमें अनायास ही मिल जाता है। चाहे हमें यह ज्ञात हो, चाहे न हो—इसकी इच्छा हो अथवा न हो—यह फल हमें मिलता ही है। अतएव बालकों का उचित लालन-पालन, उनका सम्यक् मानसिक विकास करने के लिये, उन्हें अच्छा नागरिक और जीवन में सफल बनाने के लिए तो आवश्यक है ही और यह हमारा कर्तव्य भी है।

हकलाहट कैसे हट सकती है ?

हकलाहट वाणी का लकवा है। यह एक प्रकार की हिस्टीरिया है। हकलाहट का रोगी स्नायुओं की खिंचाव का अनुभव करता है। वह आराम का अनुभव नहीं करता। हकलाहट का रोगी अकेले अच्छी तरह से बोल लेता और पुस्तक को पढ़ लेता है। परन्तु जब उसे यह विचार आ जाता है कि उसे कोई सुन रहा है, तो वह तुरन्त ही हकलाने लगता है। बहुत से हकलाने वाले व्यक्ति भले प्रकार से गा लेते हैं। परन्तु बोलने पर वे हकलाने लगते हैं।

हकलाने वाले युवकों के मन में अपने से बड़ों के प्रति असाधारण भय का भाव रहता है। यह भय का भाव दबा हुआ रहता है। लेखक के पास आने वाले चार विद्यार्थियों ने यह स्वीकार किया कि वे अपने पिता से बहुत ही डरते हैं। दो अपने बड़े भाई से डरते थे। इन विद्यार्थियों को बचपन में किसी भूल के लिये इतना डाँट दिया गया अथवा पीटा गया कि उनकी बोली हर समय के लिये लड़-खड़ाने लगी। यदि बालक कोई ऐसा काम कर रहा हो, जिसे वह अपने अभिभावक सें छिपाना चाहता हो और यदि अभिभावक बालक से एकाएक इसके विषय में प्रश्न कर ले, तो बालक बोलने में लड़-खड़ाने लगता है। बाद को बालक उस काम को तो भूल जाता है, जिसके लिये वह बोलने में पहले पहल लड़खड़ाया; परन्तु उसकी वाणी का लकवा स्थायी बन जाता है। इस घटना में कोई बात उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाली होती है। अतएव घटना को भूल कर केवल उससे सम्बन्धित आवेग का अनुभव व्यक्ति किसी मिलते-जुलते अवसर पर करता है।

हकलाने वाले व्यक्ति अपने से बड़ों के समक्ष, शिक्षक और आफिसर के समक्ष साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक हकलाते हैं। अपने से बड़ा व्यक्ति बालक के पिता अथवा बड़े भाई का प्रतीक होता है, जिसके समक्ष पहले-पहल वह व्यक्ति हकला कर बोला था। जब रोगी के मनके दबे हुए भय के भाव का रेचन हो जाता है, तो उसका रोग चला जाता है। चेतना की सतह पर आने से भय के भाव का रेचन होता है। परन्तु उसे चेतना की सतह पर लाने के लिये बड़ा ही प्रयास करना पड़ता है। हकलाहट का रोगी भीतर से डरपोक और बाहर से बड़ा साहसी होता है। वह बात-बात में चिढ़ जाता है। उसके मन में सदा अपने प्रति और जगत के प्रति असंतोष का भाव बना रहता है।

हकलाहट का रोग अकेला रोग नहीं रहता। इसके साथ अनेक दूसरे प्रकार के रोग होते हैं। इसके विषय में पहली बात यही जानने योग्य है कि यह रोग

प्रायः शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक रोग है। मानसिक रोग एक दूसरे के सहगामी होते हैं, अतएव हकलाहट के नीचे कई दूसरे मानसिक रोग छिपे रहते हैं। हकलाहट शारीरिक रोग समझा जाता है। अतएव यह दूसरे रोगों का अच्छा आवरण बन जाता है। हकलाहट का रोगी अपने से सभी बड़े लोगों को हृदय से घृणा करता है, वह उनसे बोलना नहीं चाहता। अतएव वह हकलाहट का रोग अपना लेता है।

मनुष्य का भीतरी मन जैसा चाहता है, वह वैसा ही बन जाता है। जब किसी व्यक्ति में अपने को प्रकाशित करने से रोकने की इच्छा बाहरी मन से भीतरी मन में चली जाती है, तो व्यक्ति को हकलाहट का रोग हो जाता है। हकलाहट का रोगी आत्म-हीनता की भावना से पीड़ित रहता है। उसे डर बना रहता है कि कहीं दूसरे लोग उसकी मखौल न उड़ावें। यह डर ही उसे हकलाने के लिए विवश करता है। इसी के कारण वह सबसे सतर्क रहता है। वह अपने आपके विषय में जागरूक रहता है।

हकलाहट से मुक्त होने के लिये कई उपाय बताये गये हैं। हकलाहट दूसरे रोगोंके साथ ही रहती है। अतएव चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह पहले हकलाहट के सहगामी रोगों को सुधारने की चेष्टा करे, फिर हकलाहट अपने आप ही धीरे-धीरे सुधर जावेगा। जो व्यक्ति हकलाहट को मिटाने के लिये अत्यधिक चिन्तित हो जाता है, वह उसे और भी बढ़ा देता है। जो इसके प्रति उदासीन हो जाता है, वह शीघ्र ही हकलाहट से मुक्त हो जाता है।

हकलाहट का रोगी सदा सोचता रहता है कि जब वह बोलने की चेष्टा करेगा, तो लड़खड़ा जायगा। उसका इस प्रकार का सोचना ही उसे और भी हकलाने को विवश करता है। इस भय के कारण वह बोलने में जल्दी करता है और यह जल्दी की चेष्टा उसे आगे बढ़ने ही नहीं देती। वह एक ही शब्द को बार-बार कहते रहता है; अथवा वह कुछ भी शब्द मुँह से निकाल ही नहीं पाता।

हकलाहट का रोगी सोचता रहता है कि दूसरे लोग न केवल उसके बोलने की, वरन् सभी बातों में आलोचना करते रहते हैं। आलोचना के भय के कारण वह बोल नहीं पाता। ऐसा व्यक्ति जब सबके प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करता है, तो वह सरलता से बोलने लगता है। हकलाने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह अपने मित्रों की संख्या उनकी सेवा करके बढ़ाए। जो विद्वान् हैं, वे दूसरे लोगों को कुछ पढ़ाने लगें, जो धनवान हैं, वे दूसरों को अपना धन किसी-न-किसी रूप में दें, ताकि वे उनका स्नेह प्राप्त करें। जो कुछ किया जाय, वह

सहज भाव से किया जाय। हम जो कुछ काम करते हैं, उससे अहंकार की वृद्धि होती है। इसके कारण हम किसी-न-किसी प्रकार दूसरे व्यक्ति को अपने से नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं। इससे हमारी और भी क्षति होती है।

बच्चों को प्यार करना, उन्हें कोई खेल खिलाना, उन्हें मिठाई बाँटना, उनसे बोलना अथवा कोई पाठ पढ़ाने लग जाना हकलाहट को समाप्त करने में बड़ा लाभ दायक होता है। लेखक का एक छात्र पहले बहुत ही हकलाता था। उसने शिक्षक बनने का कार्य चुना। धीरे-धीरे वह बोलने में इतना प्रवीण होगया कि अब वह कालेज का शिक्षक बन गया है। उसने लेखक को कुछ साल पूर्व लिखा था कि वह अब केवल अपने बड़े भाई के सामने बोलने में हकलाता है। इस व्यक्ति के पिता बचपन में ही स्वर्गवास कर चुके थे और उसका लालन-पालन उसके बड़े भाई ने ही किया था। ये अपने व्यवहार में बड़े सख्त थे। इसका भय इस व्यक्ति के अचेतन मन में बैठ गया और उसी ने वाणी का लकवा पैदा कर दिया।

हकलाहट के रोगी में आत्म-विश्वास की कमी होती है। वह अपने आपको भीतरी मन से सभी बातों में निकम्मा मान बैठता है। वह अपनी कमी का दोष अपनी हकलाहट के मत्थे मढ़ता है। वास्तव में बोलने की कमी के कारण उसे अनेक दूसरे प्रकार की कमियाँ हो जाती हैं। हकलाने वाला व्यक्ति समाज से डरता है और इसके कारण दूसरे लोगों के संपर्क से अपने आपको बचाते रहता है। इसके कारण वह समाज का इतना अनुभव नहीं प्राप्त करता, जितना दूसरे लोग प्राप्त करते हैं। दूसरे लोग भी उसकी योग्यता का अंदाज ठीक से नहीं लगा पाते। उसे बड़े काम करने का अवसर कम मिलता है। इससे उसका आत्म-विश्वास दिन-प्रति-दिन कम होते जाता है। यदि हकलाहट के रोगी का आत्म-विश्वास किसी प्रकार बढ़ाया जा सके, तो उसकी हकलाहट अपने आप ही कम हो जावे।

ऐसे रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ाने के लिये उससे पहले-पहल संसार के उन हकले लोगों के विषय में चर्चा करनी चाहिये, जो हकले होते हुये भी संसार के बड़े-बड़े काम कर गये हैं। सिकन्दर हकला था, परन्तु उसने ३२ साल की अवस्था में मिश्र से पंजाब तक के सभी देश जीत लिये थे। मेगास्थनीज ने अपने हकलेपन पर इतनी विजय की कि वह यूनान का एक महान वक्ता बन गया। उसका स्थान संसार के प्रभावकारी राजनैतिक वक्ताओं में आज दिन तक है। चार्ल्स डार्विन हकला था, परन्तु उसकी वैज्ञानिक खोजें संसार की मौलिक देन हैं। हकले व्यक्ति को इन लोगों की किस्सायें कह कर बड़े-बड़े कामों को करने

के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

हकले व्यक्ति को पहले-पहल ऐसे काम में लगाया जावे, जिसे वह भले प्रकार से कर सकता है। हकले व्यक्ति की वाणी का लकवा केवल वाणी को ही दोषयुक्त नहीं बनाता, वह उसकी दूसरी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को भी नुकसान पहुँचाता है। यदि ऐसे व्यक्ति के दूसरे अंग ठीक हो जाएँ, यदि उसकी मानसिक शक्ति दूसरी ओर बढ़ जाए, तो उसकी हकलाहट का रोग भी अपने आप कम हो जावे अथवा चला जावे। अतएव हकले व्यक्ति को एक काम करने के लिए सदा प्रोत्साहित करना चाहिये, जो वह सरलता से कर सकता है।

हकलाने वाले व्यक्ति के भय का भाव उसके चेतन मन में नहीं रहता, वह उसके अचेतन मन में रहता है। चेतन मन में तो वह केवल अपनी बोलने की कमी का अनुभव करता है; अर्थात् वह अपने दूसरे प्रकार की कमी को वाणी के मत्थे मढ़ देता है। उसका भय अचेतन मन की वस्तु बना रहता है। वह इस कमी को छिपाने का अनेक उपाय रचता है। वह जब कभी भी इस कमी का ज्ञान कर लेता है, तो उसकी हकलाहट का रोग समाप्त हो जाता है। ऐसे रोगी को अपनी नैतिक कमी की आन्तरिक मन में अनुभूति रहती है। इसी प्रकार की कमी के लिये वह अपने से बड़ों-द्वारा डाँटा-डपटा जाता है। आत्म-विश्वास के बढ़ने पर यह कमी का भाव समाप्त हो जाता है। अतएव हकले व्यक्ति से जितना ही अधिक शारीरिक अथवा मानसिक काम कराया जाय, उसे लाभ उतना ही अधिक होता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि चेतन मन का आत्म-विश्वास अभिमान होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के समक्ष अपनी महानता दिखाते रहता है। इस प्रकार महानता दिखाने वाले व्यक्ति के भीतरी मन में आत्म-विश्वास नहीं रहता। यह आत्म-विश्वास बहुत से भले काम करने पर उत्पन्न होता है। जब मनुष्य सदा अपने आपको किसी भले काम में लगाये रहता है और समाज-द्वारा उनके प्रकाशित होने की परवाह नहीं करता, तभी उसका आत्म-विश्वास स्थायी होता है।

हकलाहट का रोगी थोड़ा ही काम करने पर थकावट का अनुभव करने लगता है। वास्तव में वह इतनी जल्द थकता नहीं, परन्तु वह सभी कामों से परेशान हो जाता है। उसकी थकावट शारीरिक न होकर मानसिक होती है। यदि वह पूरे मन से काम करे, तो संसार के लोग उसकी वास्तविक प्रशंसा करने लगें। परन्तु वह इनसे निराश हो चुका रहता है। अतएव वह इतना काम ही नहीं करना चाहता, जिससे किसी व्यक्ति की वास्तविक सेवा हो। वह समझता

है कि वह बहुत काम करता है, परन्तु अन्यायी संसार उसके कार्यों का उचित मूल्यांकन नहीं करता। यदि वह दूसरों के मूल्यान्कन करने की बात मन से हटाकर अपनी पूरी शक्ति भर काम करे, तो न केवल वह चमत्कारक कार्य करने में सफल हो; वरन् अपनी हकलाहट को भी समाप्त कर दे। हकलाहट के रोगी को चाहिये कि वह बोलने में प्रवीण बनने की चेष्टा ही न करे। वह समझे कि इस क्षेत्र से अलग ही उसे महान बनना है। वह एक सफल कारीगर, इन्जीनियर, लेखक, वैज्ञानिक अन्वेषक या डाक्टर बन सकता है। वह इन क्षेत्रों में ही अपने आपको लगा दे। कुछ काल के बाद वह देखेगा कि उसकी वाणी भी सुधर गई। जो व्यक्ति मौलिक विचार रखता है, उसकी बात सुनने को जगत लालायित रहता है, चाहे वह कितनी ही दोष-युक्त भाषा में और सदोष ढंग से क्यों न प्रकाशित की जाय।

हकलाहट का रोगी स्नेह का भूखा रहता है। उसे अपने से बड़ों की आलोचना बचपन से मिलती आई, उनकी प्रशंसा नहीं मिली। हम हकले व्यक्ति की अलोचना जितनी अधिक करते हैं, उससे उसकी उतनी ही क्षति करते हैं। इससे न केवल उसकी वाणी की क्षति होती है, वरन् दूसरे प्रकार की क्षति भी होती है। यदि हकले व्यक्ति को ऐसा काम हम सदा दें, ताकि वह हमारी प्रशंसा प्राप्त कर सके; तो अवश्य ही उसका लाभ हो। जिस व्यक्ति को हकला व्यक्ति बड़ा मानता है, उसकी प्रशंसा हकलेपन को समाप्त करने में बड़ी सहायक होती है।

हकले व्यक्ति का विशेष मनोवैज्ञानिक उपचार तीन प्रकार का है। पहले हकले व्यक्ति को पर्याप्त समय देकर उसकी सभी बातों को सुनना। यदि वह उन्हें बोल कर नहीं सुना पाता, तो उसे लिख कर उन्हें सुनाने देना चाहिये। जब हकला व्यक्ति अपने दबे भय और ग्लानि के भावों को हमारे समक्ष प्रकाशित कर लेता है, तो उसके मन का भार उतर जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने पिता, बड़े भाई अथवा चाचा के प्रति बड़े क्रोध और भय के भाव रखता है। उसका आन्तरिक मन इन लोगों के आतंक से अत्यन्त दुखी रहता है। एक बालक को अपनी दादी का इतना भय था और उसके अन्याय से वह इतना दु:खी था कि वह अपनी मनो-गाथा कहते-कहते लेखक के समक्ष रोने लगा। एक व्यक्ति अपने पिता के अन्याय की बात कहते-कहते रो पड़ा। इस प्रकार की बातें रोगी तभी किसी व्यक्ति के समक्ष कहता है, जब वह उससे अत्यन्त हार्दिक एकता दिखाता है। इन बातों के कहने से रोगी इस व्यक्ति से बहुत ही स्नेह करने लगता है। फिर इस स्नेह का सदुपयोग रोगी को प्रोत्साहित करने और

उसका आत्म-विश्वास बढ़ाने में करना चाहिये। रोगी के आन्तरिक भाव धीरे-धीरे ही बदले जा सकते हैं और उसमें आत्म-विश्वास भी धीरे-धीरे ही उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें जल्दी करने से हानि होती है।

हकलाहट का दूसरा मनोवैज्ञानिक उपचार रोगी-द्वारा शारीरिक और मानसिक शिथिलीकरण का अभ्यास है। जिस तरह दूसरे मानसिक रोग शिथिलीकरण की क्रिया से समाप्त होते हैं, उसी प्रकार हकलाहट भी इससे समाप्त हो जाती है। हकलाहट वाणी का लकवा है। यह लकवा शारीरिक न होकर केवल कार्य का लकवा है। इसे फंक्शनलपेरालैसिस कहा जाता है। इस प्रकार का लकवा प्रतिदिन शारीरिक और मानसिक शिथिलीकरण के अभ्यास से चला जाता है। इसके लिये रोगी को निश्चित समय पर एक बिस्तर पर लेट जाना चाहिये और अपने एक-एक अंग के प्रति ध्यान देकर सोचना चाहिये कि वह ढीला हो गया है। इस प्रकार शान्त भाव का अभ्यास करते-करते उसे नींद आ जाएगी। इससे भारी लाभ होता है।

इस अभ्यास को और भी प्रभावकारी बनाने के लिये अपनी सांस पर ध्यान देना अच्छा है। पहले पूरी सांस लेकर धीरे-धीरे छोड़े पीछे साधारण सांस पर ही ध्यान देकर शान्ति-भाव का अभ्यास किया जाय। इससे थोड़े ही काल में लाभ होता है। इस अभ्यास को करते-करते सो जाने से आशातीत लाभ होता है।

हकलाहट मिटाने का तीसरा उपाय निर्देश के उपयोग का है। यह मानसिक और शारीरिक शिथिलीकरण की अवस्था में रोगी को लाकर दिया जाता है। उसे सुझा दिया जाता है कि वह सो जावेगा और सोने के पश्चात् उसके मन में परिवर्तन हो जावेगा। उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेरा जाता है, ताकि उसे नींद आ जाय। इस प्रकार का हाथ फेरने से उसके मन का बोझ उतर जाता है। उसे फिर नींद आ जाती है। यह नींद बड़ी ही लाभ-प्रद होती है। इससे रोगी के मनो-भाव उसके अनजाने ही परिवर्तित हो जाते हैं।

गाँव में जन-कल्याण का क्षेत्र

ग्रामीण कार्यकर्ता के लिए जन-कल्याण के दो क्षेत्र हैं; एक भौतिक और दूसरा मानसिक। आज भारतवर्ष में सभी ओर निर्धनता फैली हुई है। यदि आप कहीं भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाएँ, तो रास्ते में ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे, जिनके पास कोई धन नहीं है। जो प्रतिदिन शारीरिक श्रम करके किसी प्रकार उदर-पोषण करते हैं और जिनके पास कल के लिए कुछ भी नहीं है। देहात में अन्त्यजों का एक पूरा मुहल्ला रहता है, जो गाँव से कुछ दूर पर रहता है। इनके पास रहने के लिए झोपड़ियाँ होती हैं, जिन पर फूस का छप्पर होता है और आजीविका कमाने के लिए केवल अपना शरीर रहता है। इनके पास न तो जमीन रहती है और न कोई पूँजी, जिससे वे मानवोचित जीवन-निर्वाह कर सकें। गाँव की सामान्य-जनता की स्थिति अभी तक शोचनीय ही है। इन्हें खेती करने के नए ढंगों, पशु-पालन और स्वास्थ्य-रक्षा का ज्ञान नहीं है। अतएव वे निर्धन ही बने रहते हैं। हमारी सरकार की पञ्चवर्षीय योजना में ग्रामीण जनता की आर्थिक समस्या पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसके लिए ग्रामीण कार्यकर्ता को भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा भी दी जाती है।

उपर्युक्त सभी काम सराहनीय हैं। परन्तु जिस कार्य की ओर हमारी दृष्टि विशेष रूप से जानी चाहिए, वह ग्रामीण जनता में सद्विचारों की वृद्धि की है। प्रत्येक प्रकार का भौतिक धन मनुष्य को सुखी बनाता है और बिना भौतिक धन के मनुष्य में आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती; परन्तु जब भौतिक धन का संग्रह ही जीवन का लक्ष्य बन जाता है, तब वह मनुष्य को अहंकारी, मदान्ध और समाज के लिए निकम्मा बना देता है। हमारे देश में लक्ष्मी के वाहन को उल्लू कहा गया है और सरस्वती के वाहन को हंस। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य इतना ही है कि जब मनुष्य लक्ष्मी का दास हो जाता है, तो वह अपने विवेक को खो देता है और जब वह अपनी ज्ञान-शक्ति को बढ़ाता है, तो संसार का उज्ज्वल प्राणी बन जाता है। उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि जहाँ हमारे ग्रामीण कार्यकर्ताओं को गाँव के लोगों को अच्छे किसान, अच्छे उद्योग-कर्ता बनाना आवश्यक है, वहाँ उनमें विवेक और सद्विचारों की वृद्धि करना भी नितान्त आवश्यक है। भारतवर्ष की गुलामी का कारण धन की कमी उतना नहीं है, जितना कि सद्भावना और सद्विचारों की कमी। मुहम्मद गोरी और मुहम्मद गजनवी का आगमन इस देश में तब हुआ, जब कि भारतवर्ष में अन्ध-विश्वास और आपसी फूट का बोलबाला था। अन्ध-विश्वास के कारण भारतीय जनता

स्वयं अपनी रक्षा न करके किसी देवी-देवता की कृपापर अपने को रखना सीख गई। कहा जाता है कि जब सोमनाथ के मन्दिर पर मुहम्मद गजनवी का आक्रमण हुआ, तो मन्दिर के पुजारी और पण्डों ने मन्दिर की रक्षा के लिए आई हुई राजपूती सेना को आक्रमणकारियों के समक्ष अपना पराक्रम दिखाने से रोका। उन्होंने कहा कि सोमनाथ बाबा अपनी रक्षा स्वयं ही कर लेंगे और किसी दूसरे लोगों के उनकी रक्षा के प्रयत्न से वे नाराज हो जाएँगे। उनके इस कथन के परिणाम-स्वरूप सोमनाथ के मन्दिर की जो दुर्दशा हुई, वह हम सभी जानते हैं। सिन्धी लोगों के अन्धविश्वास के कारण ही मीर-काशीम की सेना दहिर राजा पर विजय प्राप्त कर सकी और भारतीय कन्याओं को बगदाद के बाजार में बिकना पड़ा। महमूद गजनवी ने सत्रह बार भारतवर्ष पर हमला किया और प्रत्येक बार उसने मन्दिरों को खूब लूटा। वास्तव में प्रकृति का यह हमारे अज्ञान को हटाने का एक उपाय था। मुसलमानों के आगमन ने हमारे अन्ध-विश्वासों को बहुत-कुछ हटाया, परन्तु यह कार्य उनके द्वारा पूरा नहीं हुआ। फिर वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार करके उसी कार्य को अँग्रेजों ने किया; परन्तु इस वैज्ञानिक शिक्षा का असर केवल शहर के कुछ लोगों पर पड़ा है। विज्ञान से प्राप्त आलोक को ग्रामीण-कार्यकर्ता-द्वारा गाँव के लोगों में फैलाना है।

अज्ञान सभी बुराइयों की जड़ है और ज्ञान सभी भलाइयों की। अज्ञान के कारण ही इस देश में अनेक सम्प्रदाय हुए, सैकड़ों जातियों का निर्माण हुआ, अछूतादि प्रणालियों की सृष्टि हुई और नारी-परतन्त्रता का संस्थापन हुआ। अँग्रेजी साहित्यकार शीले अपनी 'एक्सपेनशन आफ इंग्लैंड' नामक पुस्तक में लिखता है कि मुट्ठी भर अँग्रेजों का करोड़ों भारतीयों पर राज्य करना संसार का एक अद्भुत चमत्कार है। यह चमत्कार इसलिए संभव हुआ कि भारतवर्ष में कोई राष्ट्रीय चेतना थी ही नहीं। यहाँ कोई ऐसा विचार नहीं था, जो सभी जनता को एक संगठन में सूत्रीभूत करता। अतएव कोई भी यूरोपीय राष्ट्र मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर इस देश पर विजय प्राप्त कर सकता था। डुपले ने इस बात की खोज की थी कि कोई भी हिन्दुस्तानी जब किसी हिन्दुस्तानी नायक के अनुशासन में काम करता है, तो वह निकम्मा सिद्ध होता है और जब वही व्यक्ति यूरोपीय नायक के नीचे काम करता है, तो वह बड़ा ही कुशल सिद्ध होता है। यूरोपीय कमानों के नीचे हिन्दुस्तानी सिपाहियों से काम लेने का मार्ग डुपले ने अँग्रेजों को बताया। हिन्दुस्तानी सिपाही यूरोपीय ट्रेनिंग पाकर यूरोपीय सैनिक जैसा योग्य बन जाता है। फिर उसकी इस योग्यता को उसके देश के विरुद्ध ही काम में लाया जा सकता है। डुपले ने यह खोज की कि भारतवर्ष के लोगों में देश-

भक्ति बिल्कुल नहीं है और अपने पेट के लिए वे अपने स्वामी के लिए प्राण-निछावर कर सकते हैं। उनका उपयोग भारतवर्ष को जीतने में भी किया जा सकता है। इस खोज का लाभ अँग्रेजों ने उठाया। उन्होंने भारतवर्ष के सैनिकों तथा भारत के धन से ही भारतीय राजाओ को हराया तथा उनकी आपसी फूट से लाभ उठाया और अपना साम्राज्य सारे देश भर में फैलाया। शीले महाशय का वक्तव्य था कि जब तक भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत नहीं होती, जब तक यहाँ के निवासी किसी एक विचार से सूत्रीभूत नहीं होते, तबतक अँग्रेज यहाँ पर राज्य करते ही जाएँगे। उन्हें अपने राज्य के अन्त होने का भय कभी नहीं करना चाहिए। परन्तु जिस समय भी इस देश में राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो जायगी, उस समय थोड़े काल के लिए भी अँग्रेज यहाँ न ठहर सकेंगे। यदि राष्ट्रीय भावना के जाग्रत होने के बाद भी वे भारतवर्ष में ठहरने का प्रयास करेंगे, तो वे अपना सर्वनाश कर डालेंगे।

शीले महाशय ने यह बात आज से पचहत्तर वर्ष पहिले कही थी। किन्तु उसने यह आशा की थी कि भारतवर्ष में कभी राष्ट्रीय-भावना जाग्रत ही नहीं हो सकती। उसने देखा कि इस देश में न तो एक धर्म है, न एक जाति, न एक भाषा, न एक विचार-प्रणाली और न एक आर्थिक एकता के भाव। इन सब के अभाव में राष्ट्रीय एकता कैसे सम्भव है। उसने बताया था कि केवल सैनिक विद्रोह से कभी भी साम्राज्य का अन्त नहीं होता। इसीलिए १८५७ के सैनिक विद्रोह से अँग्रेजी राज्य का अन्त नहीं हुआ। परन्तु जब सैनिक विद्रोह के पीछे जन-जाग्रति भी रहती है, अर्थात् देश की राष्ट्रीय भावना सैनिक विद्रोह को उत्तेजित करती है, तो ऐसे सैनिक विद्रोह के दमन में राज-सत्ता का अन्त हो जाता है। १६४४ के सैनिक विद्रोह के पीछे जन-जाग्रति थी। इसके कारण अँग्रेज लोगों ने अपने लिए यही हितकर समझा कि देश के प्रतिनिधियों को राजसत्ता सौंपकर उनसे राजनैतिक संधि करके अपने घर चले जाएँ।

ग्रामीण-कार्यकर्त्ता का यह प्रथम कार्य होगा कि जिस जन-जाग्रति के कारण महात्मा गाँधी का 'भारत-छोड़ो' का नारा सफल हुआ, उस जन-जाग्रति को सदा बनाए रक्खें। देहात के जिस कोने में यह जन-जाग्रति नहीं है, उसे वहाँ पहुँचाएँ और गाँव के एक-एक बच्चे में यह भाव कूट-कूटकर भर दें कि यह देश उसका है, उसके पूर्वज हजारों वर्षों से यहाँ रहते आए हैं, इसकी महानता में उसका गौरव है, इसे स्वतन्त्र बनाए रखने तथा इसे बली बनाने में उसे आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों को निछावर कर देना है। भारतवर्ष को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है। यह हमारे देश में होनेवाली राजनैतिक क्रान्ति

का परिणाम है। किसी देश के महान होने के लिए यह प्रथम आवश्यकता है। परन्तु प्रत्येक स्वतन्त्र देश महान नहीं होता। देश की महानता के लिए भारतवर्ष में आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति की भी आवश्यकता है।

हमारी पञ्चवर्षीय योजना में इन दोनों प्रकार की क्रान्तियों के लिए स्थान है। आर्थिक क्रान्ति के लिए अनेक प्रकार की नई योजनाएँ बन रही हैं। गाँव का उद्योगीकरण किया जा रहा है। गाँव के लोगों को नए-नए तरीके अपने खेत की पैदावारी बढ़ाने के लिए बताए जा रहे हैं और ग्रामीण किसान सरकार के द्वारा अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए सहायता प्राप्त कर रही है। गाँव के आर्थिक सुधार में न केवल हमारी कांग्रेस सरकार अपना पूरा प्रयास कर रही है, वरन् अमेरिका भी इसमें हमारी सहायता दे रहा है। अमेरिका का उद्देश्य जनता के असन्तोष को कम करना है। इस असन्तोष का कारण प्रायः आर्थिक कठिनाइयाँ ही होती हैं। चीन और रूस में इसीलिए राजनैतिक क्रान्तियाँ हुईं। हमारा उद्देश्य दूसरा ही है। हमारा उद्देश्य अपने देश को आर्थिक दृष्टि से बली बनाना है। यह सत्य है कि सभी राजनैतिक क्रान्तियों के पीछे आर्थिक असन्तोष रहता है। परन्तु यह भी सत्य है कि भूखमरे लोग सामर्थ्यहीन रहते हैं। किसी देश में राजनैतिक दुर्व्यवस्था के कारण जनता में जो अकाल पड़ता है, उससे कोई राजनैतिक क्रान्ति नहीं होती। सामर्थ्य-हीन लोग आत्महत्या से ही मर जाते हैं। अतएव अपने देश और हमारी ग्रामीण जनता को हम जिस प्रकार बली बनाते हैं, उसे उसी प्रकार नव-जीवन देते तथा उसकी प्रगति में किसी प्रकार का रुकावट नहीं डालते हैं।

ग्रामीण जनता को जो बड़ा काम करना है; वह है सामाजिक क्रान्ति। यह क्रान्ति सद्विचार के फैलने से होगी। देश में जो अन्धविश्वास फैला हुआ है, उसके कारण जनता को जितना कष्ट होता है; उतना किसी दूसरे कारण से नहीं होता। गाँव की जनता ने बहुत-सी अधार्मिक बातों को ही धर्म मान लिया है। जब कोई आदमी मर जाता है और अपने पीछे नाबालिक को छोड़ जाता है, तो हमारा उद्देश्य होना चाहिये कि ऐसे अवसर पर उस घर में सहायता पहुँचाएँ। इसके बदले बिरादरी के लोग बड़े-बड़े भोज की माँग करते हैं। पण्डे और पुरोहित लोग लम्बे-चौड़े दान माँगते हैं और सभी लोग दूसरे की आपत्ति से लाभ उठाना चाहते हैं।

गाँव में अनेक बिरादरियाँ हैं। फिर इन बिरादरियों में भी सैकड़ों फिरके हैं, जो सदा द्वेष का वातावरण बनाए रखते हैं। हिन्दू-धर्म का बाह्य रूप केवल खाने-पीने और शादी-विवाह तक ही सीमित हो गया है। जिस घर में दो-एक

लड़कियाँ हो गईं; उसका दिवाला निकल गया। अतएव कुछ स्वाभिमानी परिवारों में जन्म होते ही लड़की की हत्या कर दी जाती है। यूरोप में लड़के और लड़की दोनों के जन्म से ही एक-सी खुशी होती है। भारतवर्ष में लड़के के जन्म पर खुशी और लड़की के जन्म पर दुःख होता है। इसका कारण सामाजिक रूढ़ियों के सिवा और कुछ नहीं है। जिस प्रकार लड़का अपने माता-पिता का सहायक होता है, यदि लड़की भी उसी प्रकार उनका सहायक रहे और यदि उसे दान की वस्तु न मान लिया जाए, तो समाज में स्त्रियों का स्थान स्वतः उच्च स्तर का हो जायगा।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयालजी ने कहा था कि हिन्दू लोग या तो अपनी जाति-पाँति को समाप्त कर देंगे या जाति-पाँति उन्हें समाप्त कर देगी। हिन्दू-मुसलिम समस्या की जटिलता जाति-पाँति के कारण ही उत्पन्न हुई। मुसलमान और बौद्ध बड़ी सुगमता से चीन और इण्डोनेसिया में रह सकते हैं। परन्तु हिन्दू-मुसलमान भारतवर्ष में उदारता के साथ नहीं रह सकते। मुसलिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की। अब हमारे यहाँ दो पाकिस्तान हैं, एक भौतिक और दूसरा सामाजिक। भौतिक पाकिस्तान भारतीय गणराज्य के दोनों बाजुओं पर है, परन्तु सामाजिक पाकिस्तान गणराज्य के पेट में है। इस पाकिस्तान को समाप्त करने के लिए भारतवर्ष को उस रूढ़ि को समाप्त करना आवश्यक होगा, जिसके कारण दो ऐसी सामाजिक व्यवस्थाएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें एक दूसरी की विरोधी हैं। यदि हमारी समाज-व्यवस्था बौद्धकालीन बनी रहती, तो समाज में अनेक ऐसी उलझनें उत्पन्न ही न होतीं, जिन्हें आज हमें सुलझाना है।

आज हमारे बहुत से हरिजन बौद्ध हो रहे हैं। इससे पुराने विचारवाले लोग असंतुष्ट हैं। परन्तु यदि हिन्दु-समाज ने इन परिगणित जातियों को सम्मान का स्थान दिया होता, तो इन्हें बौद्ध होने की आवश्यकता न होती। ग्रामीण कार्यकर्ता का उद्देश्य यही होना चाहिए कि भारतवर्ष में देश-भक्तों की संख्या बढ़े, समाज में समानता का भाव हो तथा अन्धविश्वास का नाश हो। जो भी विचार-धारा इस ओर बढ़े, उसमें सहयोग देना हमारा कर्तव्य है। हमारा काम भारतवर्ष की भौतिक उन्नति करना तो है; परन्तु मुख्य कार्य उसकी आध्यात्मिक और विचारों की उन्नति है। दूसरे प्रकार की उन्नति से पहिले पुकार की उन्नति स्थायी बनाई जाती है।

मानसिक स्वातन्त्र्य

आधुनिक युग में राजनैतिक स्वतंत्रता और भौतिक स्वतंत्रता पर विशेष ध्यान दिया जाता है, पर ये मानव-जीवन को केवल बाहरी स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। वास्तविक स्वातंत्र्य तो वह है, जिसमें मनुष्य जगत् के भीतर अपना अलग और निरपेक्ष अस्तित्व समझे। ऐसा स्वातन्त्र्य मानसिक होता है, जिसमें मनुष्य के क्रिया-कलाप बाहर जगत् से संचालित नहीं होते, वरन् वह स्वयं अपनी स्वतन्त्र सत्ता-द्वारा विश्व का संचालन करता है। वास्तव में ऐसे ही मनुष्य समाज के नेता होते हैं और समाज को ऐसे ही लोगों की आवश्यकता होती हैं।

मैंने कितने लोगों को देखा है. जो अकेले रहने पर संतुलन खो बैठते हैं। वे चाहते हैं कि वे सर्वदा दस-बीस लोगों के साथ रहें। अकेलेपन में उन्हें असाधारण भय होता है। एक सज्जन तो ऐसे थे, जो अकेले दो-चार मील पैदल ही न चल सकते थे। वे जहाँ कहीं जाते थे किसी-न-किसी को साथ लिए ही जाते थे। अकेले ट्रेन से यात्रा करने में उन्हें भय लगता था। एक बार साक्षात्कार के लिए वे किसी स्थान को जारहे थे, तो अकेले होने के कारण रास्ते से ही लौट आए। यदि कोई आदमी साथ न होता, तो कोई धार्मिक पुस्तक जैसे गीता, रामायण आदि को लिए हुए कहीं जाया करते थे। एक व्यक्ति तो ऐसे थे कि यदि मृत्यु का समाचार पढ़ या सुन लेते थे, तो उन्हें भय होता कि कहीं मेरी भी मृत्यु न हो जाय। इसके लिए उन्होंने मणिकर्णिका घाट की ओर जाना छोड़ दिया था। रास्ता चलते समय यदि किसी मुर्दे को देख लेते, तो भी उन्हें मृत्यु का बड़ा भय लगता था। यदि कहीं चिरी हुई लकड़ियों का ढेर देखते, तो उन्हें ऐसा लगता कि ये मेरे ही अन्तिम संस्कार के लिए रक्खी हुई हैं। अन्ध-विश्वासियों में भी इसी प्रकार की मानसिक पराधीनता पायी जाती है। रास्ते को यदि बिल्ली ने काट दिया या कोई काना मिल गया, तो उन्हें मृत्यु की आशंका होने लगती है। हमारे एक मित्र थे। उनके समक्ष यदि उनकी स्त्री बिना सिन्दूर लगाये आती या किसी कारण उसकी चूड़ी फूट जाती अथवा रात को सोते समय उसकी टिकुली गायब हो जाती, तो वे समझते थे कि अब उनकी खैरियत नहीं है। मृत्यु निकट है। एक बेचारे तो ऐसे थे कि यदि उनके बच्चे किसी चीजके लिए रोते हुए उनके समक्ष आ जाते, तो वे समझते कि उनकी मृत्यु अब निकट है, उनके बच्चे इसी प्रकार रोने और विलपने के लिए पैदा किए गए हैं। सारांश यह कि बाहरी घटनाएँ उनके विचारों को प्रभावित करती हैं। इसके विपरीत वे स्वयं बाह्य घटनाओं को प्रभावित नहीं करते। ये सभी बातें

मानसिक पराधीनता के परिणाम स्वरूप होती हैं।

स्वाभाविक रूप से प्रश्न यह उठता है कि आखीर यह सब होता क्यों है? इसके कारण क्या हैं। हमारे जीवन में ज्ञान की बहुत बड़ी महत्ता है। ज्ञान वह अग्नि है, जो हमारे पापों को क्षण भर में भस्मसात् कर देती है। ऐसी अवस्था में यदि हमारे भीतर किसी प्रकार का साधारणत्व है, तो उसका कारण जानना आवश्यक है। कारण के ज्ञान के बिना हम मानसिक रोग का निराकरण नहीं कर सकते। डाक्टर फ्रायड के अनुसार हमारे मानसिक रोगों का कारण लैंगिक होता है। हमने अपने जीवन में काम संवन्धी किसी प्रकार का असाधारण कार्य किया है, जिससे हमारी अमुक विक्षिप्तता है। जहाँ तक मेरा स्वयं का अनुभव है, मैं डाक्टर फ्रायड के उक्त कथन में शतप्रतिशत विश्वास करता हूँ। मेरा जीवन भी मानसिक जटिलताओं का एक पुंज रहा और उन सबका कारण लैंगिक ही पाया गया है।

उदाहरण के लिए हम पिछली ही बातें ले सकते है। जिन लोगों को अकेले में मृत्यु का भय होता है, उसका कारण यह होता है कि अकेले में उन्होंने कोई काम-कुकृत्य किया है। यह हस्तमैथुन भी हो सकता है। फिर उन्होंने इसका दमन किया। ऐसे लोगों को बराबर यह भय बना रहता है कि कहीं अकेले में मैं फिर कोई काम-कुकृत्य न कर बैठूँ। इस प्रकार काम-वासना का दमन होता रहता है। यही वाद में चलकर मृत्यु के भय के रूप में परिणत हो जाता है। मेरा स्वयं का अनुभव है कि कामवासना के दमन का यदि समुचित कारण मानसिक रोगी को न बताया गया, तो यदि दमन काफी है; तो हृदय-रोग के रूप में सामने आएगा, और यदि दमन की मात्रा थोड़ी है, तो वह अकारणभय के रूप में प्रस्तुत होता है। इसमें शक करने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। ऐसा मेरा आठ साल का अनुभव है।

यात्रा के भयवाला उदाहरण ही लीजिए। जिन लोगों को ट्रेन की यात्रा का भय होता है; वे या तो बहुत थौड़ी ही दूर यात्रा कर पाते हैं या तो कभी-कभी ट्रेन पर सवार ही नहीं होते। ऐसे लोगों को अनजान स्थान को जाने में भय होता है। इसका कारण फिर कामवासना के असाधारणत्व में पाया जाता है। ऐसे लोग अपनी स्त्री से अधिक समय तक संभोग नहीं कर पाते। उनको बराबर भय लगा रहता है कि कहीं जल्दी ही में शक्तिहीन न हो जाऊँ। यही प्रतीक-रूप से ट्रेन से लम्बी यात्रा के भय के रूप में प्रकट होता है। मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के अनुसार ट्रेन का चलना, काम-संबंधी व्यापार का प्रतीक माना जाता है।

हम अपने बालकों के शत्रु कैसे बन जाते हैं ?

अंग्रेजी में कहावत है कि अकसर नर्क का मार्ग भले इरादों का बना रहता है (Path to hell is paved with good intentions) इस कहावत की सत्यता कहीं भी प्रमाणित होती है तो अपने ही बच्चों के लालन पालन और शिक्षा के विषय में होती है। हम बालक को अच्छे से अच्छा नागरिक बनाना चाहते हैं और वह बुरा से बुरा व्यक्ति बन जाता है। भारतवर्ष के एक अच्छे दानी समाज सेवक का लड़का शराबी और व्यभिचारी बन गया। इसके पिताने अपना अंतिम जीवन शिक्षा कार्य में ही खर्च किया और लाँखो रुपया शिक्षा के लिये दान दिया। पिता को इस पुत्र को अपनी कमाई जायदाद से वंचित करना पड़ा। एक दूसरे पुत्र का अपने बूढ़े पिता के प्रति इतनी निर्दयता का व्यवहार हुआ कि वे इसके कारण पुत्र को छोड़ अकेले अलग रहने लगे।

हमारे पास अनेक मानसिक रोगी आते हैं, जिन्हें पिता के व्यवहार के कारण विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग लग जाते हैं। कुछ दिन पूर्व एक बीस वर्षीय नवयुवक चित्त की एकाग्रता की कमी तथा स्मरण शक्ति के ह्रास का रोग लेकर हमारे पास आया। यह प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी है। इसकी गुप्त बातों को जानने से पता चला कि उसे जटिल काम-कुटेव भी थी। वह बाध्य होकर इस क्रिया करता और फिर बहुत ही पश्चाताप करता। परन्तु समय आने पर इसे करने से रुकता भी नहीं था। यह व्यक्ति अपने पिता को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। पिता ने उसे बहुत नैतिक शिक्षा दी थी। परन्तु वह इस शिक्षा के अनुसार अपने को चला नहीं पाता था और इसके कारण वह अपने आपको बहुत कोसता था। कभी कभी उसके मन में विचार आ जाता कि वह पिता की हत्या कर दे। इस विचार के आने पर वह और भी दुःखी हो जाता था और कभी कभी आत्म-भर्त्सना स्वरूप अपना सिर जमीन पर पटक लेता था। उसे अपनी बहिन और माँ के प्रति भी कामुक विचार आते रहते थे। इनके कारण उसे डर हो गया कि कहीं यह उन कुकृत्यों को ही न कर डाले जिनके विचार उसके मन में बार बार आते रहते थे। अतएव वह अपना घर छोड़कर बोर्डिंग मे रहने लगा। पीछे उसने उस नगर को ही छोड़ दिया जिसमें उसके माँ बाप रहते हैं और वह दूर जाकर पढ़ने लगा। अब वह अपने घर से दो हजार मील दूरी पर पढ़ता है। जब वह हमारी चिकित्सा में था, उसने ४२० नामक एक फिल्म देखी। इस फिल्म को देखते ही उसके मन में प्रबल विचार आया कि वह अपने पिता की ही हत्या करदे क्योंकि उसके पिता भी अपने रोजगार में उसी प्रकार का धोखा

बाजा करते हैं जिनका चित्रण उस फिल्म में था। वह इस विचार से घबड़ा गया और लेखक के पास दौड़ा आया। समारे यहाँ इस बात को कहने पर और शान्त भावना का अभ्यास करने पर उसका विचार शान्त हुआ।

उपर्युक्त युवक की मनोदशा उसके पिता के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार के कारण ही हुई। यह युवक एक ओर पिता को प्यार करता था और दूसरी ओर वह उनके प्रति शत्रुता का भाव रखता था। मानसिक रोग इसी प्रकार द्विविधा युक्त मनोवृत्ति के कारण होते हैं। पिता के प्रति स्नेह होना तो स्वभाविक ही है, परन्तु उनके प्रति द्वेष भाव उनसे अपने आचरण की बार बार आलोचना सुनते सुनते उत्पन्न हो गई थी। ऐसे ही लोगों को जटिल हस्त-मैथुन की आदत भी लग जाती है। यह एक प्रकार का मानसिक रोग है जो कठोर पिता के अनुशासन के कारण उत्पन्न होता है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति एक ओर बड़े आदर्शवादी होते हैं और काम-कृत्य को बहुत बुरा समझते हैं और दूसरी ओर हस्त-मैथुन में भी पड़ जाते हैं। उनकी कठोर आदर्शवादिता उन्हें पिता से मिलती है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि बालक का पिता जैसा होता है बालक का आदर्श स्वत्व (Super-ego) भी उसी प्रकार का बन जाता है। ढीले ढाले पिता के बालक का आदर्श स्वत्व ढीला ढाला होता है और कठोर पिता के बालक का आदर्श स्वत्व बड़ा कठोर होता है। दोनों ही प्रकार के बालक जीवन में दुःखी रहते हैं। पहले प्रकार के लोग अनैतिक आचरण को बुरा नहीं मानते और इसके कारण अनैतिक आचरण करने पर समाज द्वारा दण्ड पाते हैं और दूसरे प्रकार के लोग अपने आपको छोटी छोटी बातों के लिये कोसते रहते हैं। इस प्रकार वे अपनी इच्छा शक्ति को इतना दुर्बल बना लेते हैं कि अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाते। ऐसे लोग अपना आत्मविश्वास ही खो देते हैं। जब ऐसे लोगों के मन में कोई अभद्र विचार घुस जाता है, तो वे उसे बाहर निकालने में असमर्थ रहते हैं। अनेक प्रकार के मानसिक रोग उन्हीं लोगों को होते हैं जिनके आदर्श तो ऊँचे हैं, परन्तु जिनमे कार्यक्षमता बहुत ही कम होती है। मनुष्य में कार्यक्षमता काम करने से ही आती है। काम करने में लगन प्रोत्साहन से उत्पन्न होती है। जब किसी बालक की आलोचना बार बार की आजाती है तो वह अपना आत्म-विश्वास ही खो देता है।

अंग्रेजी में कहावत है सफलता के समान दूसरी कोई वस्तु सफल नहीं होती (Nothing succeeds like success)। जब बार बार प्रयत्न करने पर भी मनुष्य सफलता का मुँह नहीं देखता, अर्थात् पिता की प्रशंसा प्राप्त नहीं करता, तो वह हताश हो जाता है। पिता की प्रशंसा ही बालक के लिए सफलता का

आपदण्ड होता है। बाद को पिता का स्थान शिक्षक ले लेता है। इसके पश्चात् मनुष्य अपने पिता से आत्म-सा कर लेता है, अर्थात् अब वह बाहरी पिता की आलोचना से न डरकर अपने आदर्श स्वत्व की आलोचना से ही डरने लगता है। यह डर का भाव पिता के प्रति द्वेष और घृणा के कारण उत्पन्न होता है। कठोर पिता से बालक को डर लगता है। जब बालक अपने आपको पिता से अधिक बली जानने लगता है तो वह पिता के प्रति विद्रोह करता है और वह अपने आचरण में वही काम करता है जिससे पिता को अधिक कष्ट हो। इस तरह कितने ही महापुरुषों के लड़के जान बूझकर अथवा बाध्य होकर कुछ ऐसे काम करते हैं जिससे पिता की बनी बनाई कीर्ति नष्ट ही जाय। इस प्रकार पिता की असफलता को संसार जान लेता है। पिता की इस प्रकार की असफलता के ज्ञान में बालक को आन्तरिक संतोष होता है।

हमारे एक पुराने छात्र को न्यूरेस्थेनिया का रोग हो गया है। उसे सभी समय स्नायुओं का खिंचाव बना रहता है। इन्हें इसी प्रकार के रोगियों की बचपन की गाथायें पढ़ने को दी गईं। इन्हें पढ़ते पढ़ते उन्हें अपने बचपन की बातें भी याद आने लगी। उनके पिता पुलिस-इन्सपेक्टर थे। वे अपने बच्चों के प्रति उसी प्रकार सतर्क थे जिस प्रकार वे अपने मुजरिमों के प्रति सतर्क थे। एक बार घर लौटने में देर हो जाने पर उन्हें इतना पीटा गया कि अधमरा कर दिया गया। पढ़ना उन्हें भार रूप था। स्कूल के मास्टर भी पीटा ही करते थे। परन्तु स्कूल उन्हें जाना ही पड़ता था। बचपन की ये बातें तो बीत गईं। उन्होंने ऊँची से ऊँची कक्षा ठीक से पास कर ली। परन्तु उनमें आत्म-विश्वास की वृद्धि न हुई। वे गृहस्थ जीवन को भार रूप ही मानने लगे। अब प्रत्येक काम करने के पूर्व उन्हें विचार आता है कि वे उस काम को कभी भी पूरा नहीं कर पावेंगे। उन्हें अच्छी सरकारी नौकरी मिली है। परन्तु उन्हें सदा डर लगा रहता है कि उनकी नौकरी छूट जायगी। जो काम उन पर आ जाता है वे उसे पूरा कर ही लेते हैं। परन्तु उसे पूरा करने का आत्म-विश्वास उन्हें नहीं होता। उन्हें सदा किसी न किसी प्रकार के रोग का भय लगा रहता है। इनका नैतिक आदर्श बड़ा ही ऊँचा है, परन्तु उसके अनुसार काम करने की क्षमता वे अपने आप में नहीं पाते।

उक्त व्यक्ति ने बात-बात में अपने रिश्तेदार के लड़केकी वर्तमान मनोदशा को बताया। इस लड़के में वे सभी बातें आ रही हैं जो उनके मनमें धीरे-धीरे आईं। यह लड़का रात को सोते हुए स्वप्न में बड़बड़ाता और कभी कभी रोने लगता है। इसकी उमर ६ साल की है। कभी कभी वह अचानक चौंक के उठजाता है।

यह लड़का दो बार इन्टर की परीक्षा में फेल हो चुका है। उसके पिता उससे बिलकुल निराश हैं। वह परिवार का अकेला ही लड़का है। पिता उसे बहुत बड़ा विद्वान बनाना चाहते थे, अतएव उसकी सभी प्रकार की देख भाल भली प्रकार से की गई थी। परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। अब उसके पिता कहा करते हैं कि किसी परिवार में विद्या तीन पीढ़ी तक ही रहती है। वह तीसरी पीढ़ी उन्हीं तक समाप्त हो गई। अतएव उनके लड़के का निकम्मा निकलना अनिवार्य ही था। वे इस प्रकार अपने अविभावकत्व के दोष को दृष्टि ओझल करते हैं। बार बार की आलोचना से उस लड़के का आत्म-विश्वास ही जाता रहा। उसे पिता के मुँह पर विरोध करने की अथवा रोने की हिम्मत नहीं होती, अतएव वह अब अपनी सुप्तावस्था में रोता हैं।

लेखक के पास आये एक १८वर्षीय छात्र को रात में बड़बड़ाने और नींद में घर से उठकर कहीं दूर चले जाने की आदत होगई थी। एक दिन वह आधी रात को नींद में घर से उठकर आधे मील दूर पर अपने एक मित्र के घर चला गया और वहाँ अपने मित्र को चारपाई पर उसे बिना जगाये सो गया। वह वहाँ रात भर सोता रहा। जब सवेरा हुआ तो घर में खोज हुई। जागने पर वह स्वयं अपने आपको अपने मित्र की चारपाई पर देखकर आश्चर्य में पड़ा। इस बालक को काम-कुटेव भी थी। इसके प्रयत्न करके रोकने पर उसे स्वप्नदोष का रोग हो गया था। वह इससे परेशान था। रोग का कारण जानने पर पता चला कि उसके मनमें पिता के प्रति प्रबल द्वेष की भावना थी। वह एक ओर पिता को श्रद्धा करता था और दूसरी ओर उनसे द्वेष भी करता था। पिता ने इसे विद्या प्राप्त करने में जो सहायता देना चाहिये था नहीं दी था। वह विज्ञान पढ़ना चाहता था और उनसे पढ़ना पड़ा आयुर्वेद। उसके पिता उसकी माँ से बहुत झगड़ते थे और कभी-कभी उसे क्रुद्ध होकर पीट देते थे। इस प्रकार के व्यवहार से बालक का जीवन ही भार रूप बन गया था। वह अपनी माँ को बहुत प्यार करता था। जब उसकी माँ मरी तब वह घर से पाँच सौ मील दूरी पर विद्यालय में था। उसे माँ की मृत्यु की खबर हो नहीं दी गई। इसका पता उसे माँके मरने के चार महाने बाद लगा।

उसके पिता के तीन पुत्र हैं। तीनों योग्य हैं, परन्तु जब मैं उसके पिता से मिला तो उसे अपने सभी पुत्रों से निराश पाया। उसका कहना है कि ज्यों ही वह अपनी एक छोटी कन्या के हाथ पीले कर देगा, घर छोड़कर चला जायगा। मैंने जब पुत्र के दोष को पूछा तो उसने बताया कि ये लोग उसकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं। वास्तव में यह व्यक्ति अपने जीवन में स्वयं ही असफल रहा।

उसके पिता के पास बहुतसी जमीन थी जो वह उसे मिली थी। परन्तु अपनी अकुशलता और अभिमान के कारण उसने सभी खो दी थी। अपनी स्त्री की आलोचना उसे असह्य थी। वह अपनी असफलता को अपने पुत्रों में देखने लगा था। इस प्रकार वह अपनी आत्म-हीनता को पुत्रों की आलोचना करके दृष्टि-ओझल करता था। अपने जीवन में असफल व्यक्ति पुत्र की सफलता में सुख नहीं मानते। उनका भीतरी मन पुत्र की सफलता का ईर्ष्यालु बन जाता है और इसके कारण पुत्र को असफल बनाने का वे अपने अनजाने ही पूरा प्रयत्न करते हैं। जीवन में सफल व्यक्ति ही दूसरों को अपने जीवन में सफल होने में सहायक होते हैं। दूसरों की कटुआलोचना करने वाले व्यक्ति हीनता की भावना अपने मनमें रखते हैं। वे अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों में अपने अनजाने यही हीनता का भाव उत्पन्न कर देते हैं। अपने सन्तान में भी वे उन्हीं दोषों को ले आते हैं जो स्वयं उनमें छिपे हुए रहते हैं। इस प्रकार वे चेतन मन से अपनी सन्तान का कल्याण का चिन्तन करते हुए भी उनकी वास्तविक क्षति कर देते हैं। वे उनके आत्म-विश्वास का हरण कर लेते है और इस प्रकार उनके सभी चरित्र के गुणों को समाप्त कर देते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान बताता है; जिस बालक को बार बार डाँटा डपटा अथवा पीटा जाता है उसकी कामवासना में विलक्षण प्रकार की विकृतियाँ हो जाती हैं। ऐसे कुछ बालक पीटे जाने के अभाव में आन्तरिक बेचैनी का अनुभव करते हैं। और उन्हें बाध्य होकर ऐसे कार्य करना पड़ता है जिससे वे दूसरों द्वारा दण्डित हों। इस प्रकार की मनोवृत्ति को मैसोकिस्टिक अथवा पिटने की प्रवृत्ति कहा जाता है। यह काम वासना का एक प्रकार का विकार है। ऐसी प्रवृत्ति के कुछ युवकों को पीटे जाने में वीर्यपात होता है। इस प्रकार समाज में अपराधियों की सृष्टि होती है। बार बार पिटने और डाँट खाने वाले बालक में हस्तमैथुन तथा समलिंगी व्यभिचार की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। इसी के कारण हकलाना और दिल की धड़कन भी आती है। सिगरेट पीने और शराबखोरी की आदतों की जड़ में बालकों की वह बेचैनी होती है जो उचित अभिभावकों के प्रेम के अभाव में उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम अपने बालकों को भला बनाने के प्रयास में हम प्रायः उनकी स्थायी क्षति कर देते हैं।

————

आत्म-विश्वास में कमी का कारण

मनुष्य का आत्म-विश्वास उसकी आकांक्षा और उसकी योग्यता के साम्य पर निर्भर करता है। मनुष्य की आकांक्षा को वह स्वयं जानता है, परन्तु उसे अपनी ठीक योग्यता का ज्ञान नहीं रहता। अपनी योग्यता का माप दण्ड अपने से बाहर रहता है। इसके लिये हमें जानना पड़ता है कि दूसरे लोग हमारे बारे में क्या सोचते हैं और हमें कौन कौन से प्रमाण पत्र प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित आदर्श स्वत्व भी योग्यता की जाँच करता है। साधारण लोगों को अपनी योग्यता के विषय में बाहरी लोगों का भय रहता है और योग्य व्यक्तियों में अपने सुस्वत्व (सुपर ईगो) का ही भय रहता है। इस सुस्वत्व की बनावट में सभी बाहरी लोगों के विचार काम करते हैं।

मनुष्य अपने आत्म-विश्वास को अपनी आकांक्षाओं को घटा कर अथवा अपनी योग्यता को बढ़ाकर कर सकता है। अपने सामर्थ के अनुसार हो जब मनुष्य चेष्टा करता है तभी उसे सफलता मिलती है और यह सफलता की संभावना ही मनुष्य को आत्म-विश्वास प्रदान करती है। हमारी योग्यता का मूल्यांकन हमारे व्यक्तिगत स्वत्व से भिन्न तत्व करता है। एक दृष्टि से बाहरी लोग योग्यता का मूल्यांकन करते हैं और दूसरी दृष्टि से हमारा आन्तरिक स्वत्व। यदि किसी चुनाव में कोई मनुष्य जाता है तो उसे विचार करना पड़ता है कि चुनाव बोर्ड में कितने आदमी उसके पक्ष के होंगे। फिर उसे अपनी योग्यता पर विचार करना पड़ता है। इन दोनों बातों में उसे भूल होने की संभावना रहती है। किसी प्रकार की कमी का ज्ञान मनुष्य में आत्म-विश्वास का अभाव उत्पन्न करता है।

मनुष्य में आत्म-विश्वास की कमी बचपन के अनुभवों के कारण भी होती है। जिस बच्चे की प्रत्येक बात के लिये आलोचना की जाती है और जिसे अपनी प्रशंसा सुनने का अवसर कम मिलता है वह भी अपना आत्म-विश्वास खो देता है। बार बार असफलता मिलने पर मनुष्य में कायरता की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। कायरता आत्म-विश्वास का अभाव है। यह एक प्रकार की आदत है जो असफलता का बार बार अनुभव करने से उत्पन्न होती है। जिस मनुष्य में कायरता की जड़ जम जाती है उसमें चरित्र के सभी दुर्गुण आ जाते हैं। आशावादिता मनुष्य को अपनी परिस्थितियों से लड़ने को प्रोत्साहित करती है, जिससे कि सद्गुणों की उत्पत्ति होती है और निराशावादिता परिस्थितियों से लड़ाई करने के लिये मनुष्य को असमर्थ बना देती है। कायर पुरुष

न बाहरी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है और न अपने आप पर। वह अपने भाग्य को ही कोसते रहता है।

बालक में सफलता तथा असफलता की मनोवृत्ति उत्पन्न करने में माता पिता का बड़ा हाथ होता है। जो बालक माता पिता द्वारा बार-बार उपेक्षित होता है वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। माता पिता के प्रेमके अभाव में वह अपने आपको कोसने की आदत डाल लेता है। वह बात बात में अपनी ही आलोचना करता है। आत्म-आलोचना मात्र से मनुष्य में योग्यता नहीं आती। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है।

कितने ही बालकों को किसी नये स्थान में जाने से, नये व्यक्तियों से मिलने अथवा भीड़ में जाने से कुछ ऐसे भावात्मक अनुभव हो जाते हैं जिसके कारण उन्हें नये स्थान में जाने से, आगन्तुकों से मिलने तथा नये काम में हाथ डालने से डर लगने लगता है। यदि किसी लड़के को बहकाकर कोई नया व्यक्ति कहीं दूर ले गया और फिर उसके साथ उसने अनुचित व्यवहार किया तो फिर जीवन भर उसे नये लोगों से मिलने में डर लगता रहेगा। ऐसी अवस्था में ऐसे बालकों को अकारण भय, हृदय की धड़कन तथा हकलाने का रोग हो जाता है।

नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से भी मनुष्य का आत्म-विश्वास घट जाता है। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। फिर व्यक्ति इस आत्म-ग्लानि को भुलाने की चेष्टा करता है। ऐसा करने पर वह विशेष घटना तो व्यक्ति भूल जाता है, परन्तु अब वह उसके प्रतीकों से डरने लगता है। आचरण की पवित्रता के विषय में छान-बीन करने से डरने वाला व्यक्ति परीक्षाओं में बैठने से भी डरने लगता है। उसे परीक्षा में बैठते समय हृदय की धड़कन होने लगती है। कभी-कभी वह परीक्षा के ठीक पहले बीमार हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक के एक छात्र का निम्न लिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

हमारा एक प्रतिभावान छात्र अपनी प्रत्येक परीक्षा में बीमार हो जाया करता था। उसने मेट्रिक के बाद एम० ए० तक की प्रत्येक परीक्षा बिस्तर पर से ही दी। एम० ए० के बाद वह ट्रेनिंग कालेज का विद्यार्थी बना। इस समय हमें उसकी जीवनी का अध्ययन करने का अवसर मिला। उसे अनेक प्रकार की मानसिक बेचैनी सदा बनी रहती थी। उसकी जीवनी के भावात्मक अनुभवों को जानने से पता चला कि जब वह तेरह साल का था तो वह एक बछिया की योनि में अँगुली लगाकर काम क्रीड़ा किया करता था। इससे वह बछिया बहुत छटपटाती थी। कुछ समय बाद वह बछिया मर गई। इस बालक के मन में

बात आई कि संभवतः उसके काम कृत्य के कारण ही बछिया मर गई है, अब वह गौ हत्यारा हो गया। गौ हत्या की पाप-भावना अब उसे त्रास देने लगी। उसने सोचा कि इस पाप का दण्ड उसे अवश्य ही मिलेगा। इस घटना के एक साल बाद उसे क्षय रोग हो गया। यह अच्छे होने पर उसको कुछ न कुछ रोग लगा ही रहता था। परीक्षा के समय वह अवश्य बीमार पड़ जाता था। उपर्युक्त घटना के स्मरण होने पर युवक को परीक्षा के समय रोगी बनने की घटना का अन्त हो गया।

इसी प्रकार एक दूसरे नवयुवक को प्रत्येक परीक्षा के समय, दूसरों से मिलते समय, कोई समस्या को हल करते समय हृदय की धड़कन होने लगती थी। एक बार जब वह एक स्थान के लिये इन्टरव्यू के लिये बुलाया गया तो वह नियुक्त स्थान पर पहुँच ही न सका। वह बीच से ही लौट आया। उसे इस स्थान पर पहुँचने के लिये २०० मील रेल से चलना था। सौ मील चलते-चलते उसके हृदय की धड़कन इतनी बढ़ गई कि उसे वापस आना। इस व्यक्ति ने अपनी सभी परीक्षायें प्रथम श्रेणी में ही पास की थीं।

इस प्रकार की भय की मनोस्थिति का कारण जानने से पता चला कि अपने बचपन में उसे एक ऐसी स्त्री के प्रति कामोत्तेजना हो गई थी जो नैतिकता के सर्वथा प्रतिकूल थी। उसे वीर्यपात हुआ और फिर इतनी अधिक आत्म ग्लानि हुई कि उसने अपने जीवन को नये ढँग का ही बना लिया। उसके नैतिक आदर्श बड़े ऊँचे हो गए और जीवन बड़ा सादा हो गया। इसके कारण एक ओर वह पढ़ाई में अच्छा विद्यार्थी हो गया और दूसरी ओर उसके मनमें प्रबल अन्तर्द्वन्द्व चलने लगता। वह पुरानी घटना को भूल चुका था परन्तु अब उसे अकारण ही हृदय की धड़कन होने लगती थी। परीक्षा के समय यह इतनी बढ़ जाती थी कि उसे परीक्षा में बैठना भी कठिन हो जाता था। इस व्यक्ति का यह रोग मानसिक चिकित्सा के उपरान्त जाता रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिकता के प्रतिकूल आचरण से जो आत्म-ग्लानि होती है उसके दमन से भी मनुष्य का मन इतना दुर्बल हो जाता है कि वह नई परिस्थितियों का सामना करने की अपने में क्षमता ·हीं पाता। मनोविश्लेषण से ऐसे व्यक्तियों को लाभ होता। सभी लोगों को लाभ अपनी इच्छाओं को कम करने से और अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाने से अर्थात् परोपकार में लगाने से होता है। इस प्रकार जो आत्म-विश्वास आता है वह मनुष्य की स्थायी निधि है।

— * —

दमित स्मृति के जागरण से रोग की समाप्ति

मेगड्डुगल ने अपनी एबनार्मल साइकालोजी में एक ऐसे रोगी का वर्णन किया है, जो सदा डरा करता था कि पीछे से कोई उसे पकड़ लेगा। वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। उसकी उमर ५० वर्ष की हो गई थी। यह भय उसे निरर्थक दिखाई देता था परंतु वह उसे रोक नहीं पाता था। यदि उसे किसी सभा में जाना होता तो वह ऐसे स्थान पर बैठता था जहाँ उसके पीछे दीवाल हो, ताकि किसी के पीछे से आने का भय न हो। एक दिन यही व्यक्ति अपने बचपन के गाँव में गया। वहाँ उसका बड़ा स्वागत किया गया। वह गाँव के विभिन्न लोगों के पास उनके घर पर भेंट करने गया। इसी समय वह एक बूढ़े बनिये की दुकान पर पहुँचा। उसने उससे अनेक प्रकार की कुशलता पूछी। बात-बात में उसने मुस्कुराते हुये यह भी कह दिया कि क्या अब तुमने बोरों में से अखरूट की चोरी करना छोड़ दिया। इस बात को सुनते ही उसका चेहरा लाल पड़ गया। उसको बचपन की वे सभी बातें याद आ गई जो अखरूट की चोरी के साथ संबंधित थी। शर्म के मारे उसका चेहरा नीचा हो गया। परंतु एक क्षण में ही उसका रोग समाप्त हो गया।

जब यह व्यक्ति १० साल का लड़का था तो वह अपने घर से आकर गाँव के इस बनिये के यहाँ से अखरूट चुरा ले जाया करता था। ये ऐसी जगह पर रक्खे थे जहाँ उन्हें कोई सब समय देखता न था। एक रोज इस बनिये ने उस बालक की चेष्टायें देखकर उसकी नियत पर संदेह किया और वह इस ताक में रहा कि जब वह लड़का कोई चीज उठा कर ले जाने लगेगा उसी समय उसे पकड़ा जावेगा। अतएव ज्योंही वह लड़का बोरे से मुट्ठी भर अखरूट लेकर चला, झट बनिये ने उसके कुर्त्ते की कालर को पीछे से पकड़ लिया। अब क्या था शरीर काटो तो खून नहीं, यह दशा उस लड़के की हो गई। वह प्रतिष्ठित घर का बालक था ही; उसे डर लगा कि उसकी चोरी की बात सभी लोग जान लेंगे और इससे घटना की बात किसी को नहीं बताया। परंतु लड़के के मन पर तो लज्जा और ग्लानि युक्त घटना के संस्कार बन ही चुके थे। इनके परिणाम स्वरूप एक ओर उसने अपने आपको समाज में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और वह एक बड़े सच्चे नागरिक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और दूसरी ओर उसे अकारण भय के रूपमें पुराने कृत्य का भुगतान करना पड़ा। जब इस व्यक्ति को पुरानी दमित स्मृति याद आ गई तो उसका रोग समाप्त होगया।

अभी हाल की बात है हमारे यहाँ आने वाले रोगी को कान में सनसनाहट

होती रहती थी। इस सनसनाहट के कारण उसका मन उदास रहता था। इधर उसे प्रमेह का रोग भी है, जिसकी उसने बहुत सी चिकित्सा कराई पर रोग न गया। वह अभी अपने जीवन की भावात्मक घटनायें लिख रहा था। उसने काम-वासना संबंधी भी अनेक बातें लिखी। ज्योंही उसने यह बात लिखी कि उसने अपनी काम-तृप्ति के लिये एक बार पशु से भी मैथुन किया उसके एक कान की सन सनाहट एकाएक जाती रही।

लेखक के एक शिष्य को अपनी परीक्षा के समय घड़ी (टाइम पीस) की टक टकाहट पढ़ने में विघ्न डालने लगी। इससे परेशान होकर उसने घड़ी को बाजू के कमरे में रक्खा। परंतु इससे दिल की घबड़ाहट और भी बढ़ गई। वह घड़ी के बिना भी नहीं पढ़ सकता था और घड़ी उसे पढ़ने भी नहीं देती थी। यह व्यक्ति मनोविज्ञान का प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी है। वह जानता है कि ये परेशान करने वाली वस्तुयें किसी दूसरी बातों का प्रतीक होती हैं। अतएव वह ऐसी बात को सोचने लगा जिसका प्रतीक घड़ी की टकटकाहट हो सकती है। कई दिनों तक कुछ भी ध्यान में न आया। एक रोज मानसिक शिथिलीकरण की अवस्था में उसे ध्यान आया कि एक बार जब वह अपनी स्त्री के पास सोया था और उससे काम-संबंध करना चाहता था तो पास में सोई लड़की जाग गई थी और वह रोने लगी थी। उससे उसे बड़ा क्षोभ हुआ था। उसने लड़की को अपनी माँ के पास बाजू के कमरे में छोड़ दिया। परंतु उसकी आत्मा फिर उसे कोसने लगी। इस प्रकार वह रात्रि अशान्ति में ही व्यतीत हुई। उसे समझ में आया कि घड़ी की टकटकाहट लड़की के शोर मचाने का प्रतीक है और उसका पढ़ना भोग क्रिया का। घड़ी के कमरा बदलने से उसे इसलिये ही परेशानी होती थी कि यह प्रतीक रूप से उस आत्मग्लानि को जाग्रत करती थी जो रोती हुई लड़की को एक कमरे से दूसरे कमरेमें ले जाने के कारण हुई थी। ज्योंही यह पुरानी घटना रोगी को याद आई उसकी परेशानी एकाएक नष्ट हो गई।

इसी युवक का एक दूसरा अनुभव उल्लेखनीय है। गत वर्ष होली के समय यह अपने देहात के घर गया था। वहाँ पहुँचने पर जब सब लोग अपने मजेमौज में लगे हुये थे उस समय इसे एकाएक पटाके की आवाज परेशान करने लगी। जब पटाके की कोई आवाज़ होती तब उसे मालूम होता था कि कोई व्यक्ति उसके हृदय पर एक भारी धन पटक रहा है। इस आवाज के भय के मारे वह अपना घर छोड़ कर एक मील दूर गंगा जीके किनारे सबेरे ही उठकर चला जाता था और रात होने पर वापस आता था। उसे मालूम होता

था कि इन पटाकों की आवाज से उसके दिल की गति ही रुक जायगी। इधर घर के लोग उसे खोजते रहते। खुशी के समय अपने प्रिय पुत्र को कौन देखना नहीं चाहेगा। अभी रंग छोड़ने का दिन नहीं आया था। उसके आगमन को सोच कर उसे और भी परेशानी होती थी। अतः उसने सोचा कि अब तो मृत्यु नजदीक ही है अतएव अपने गुरु के पास ही जाकर मरना उचित है। संभव है वे बचा लें। इस विचार को लेकर वह काशी मनोविज्ञान शाला के लिये चला। रास्ते में वह सोचता जाता था कि पटाके की आवाज से आखिर परेशानी का कारण हो ही क्या सकता है। उसे ज्ञात था कि ऐसे रोगों का कारण प्रायः कामवासना के क्षेत्र में ही होता है। अतएव उसने अपने उन सभी काम अनुभवों को सोच डाला जिनके कारण उसे कभी आत्म-ग्लानि हुई थी। सोचते-सोचते उसे पता चला कि जब वह एक बार अपनी किशोरावस्था में अपनी भाभी के पास सटकर सोया हुआ था तो उसे कामवासना जाग्रत हो गई थी। इस बालक को किसी प्रकार के काम-कृत्य के पूर्व ही वीर्यपात हो गया। फिर उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। बालक की नैतिक बुद्धि प्रबल तो थी ही, वह बहुत अधिक अपनी आत्म-भर्त्सना करने लगा। इसके बाद उसने भाभी के पास सोना तो दूर रहा उससे बोलना तक छोड़ दिया था। उसे एकाएक ज्ञात हुआ कि पटाका जननेन्द्रिय का प्रतीक है और उसका छोड़ना वीर्य-स्खलन का। वास्तव में होली के अवसर पर, विवाह के समय लोग अनजाने पटाके और बन्दूक इसलिये ही छोड़ते हैं कि इनसे उनकी काम वासना की प्रतीक रूप से तृप्ति होती है।

साधारण लोगों के मन में इतना अंतर द्वन्द्व नहीं रहता कि काम क्रिया के प्रतीकों से भी उन्हें भय हो। परन्तु जिस व्यक्ति में वासना का दमन अत्यधिक होता है वे न केवल वासना के सीधे प्रकाशन से घबड़ाते हैं वरन् उनके प्रतीकों से भी उन्हें घबड़ाहट होती है। इसी अंतर द्वन्द्व के कारण बहुत से आदर्शवान युवकों में मानसिक नपुंसकता भी आ जाती है।

ज्योंही उक्त नवयुवक को ऊपर बताई घटना और पटाके की आवाज का उससे संबंध ज्ञात हुआ तो उसका रोग एकाएक जाता रहा। फिर वह बड़े विस्मय के साथ मनोविज्ञानशाला केवल अपने पुराने अनुभव कहने आया। वह यहाँ आकर रोकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगा। उक्त घटना के स्मरण होने के पश्चात् बनारस में चलनेवाले बड़े-बड़े पटाकों की आवाज ने उसे कुछ भी परेशान नहीं किया। इस प्रकार दमित स्मृति के चेतना के स्तर पर आते ही रोग की समाप्ति हो जाती है।

मानसिक रोग की समाप्ति में पुनः शिक्षा का महत्व

मानसिक रोग की उत्पत्ति मनुष्य के प्रबल मनोभावों के दमन से होती है। जिस व्यक्ति की. बचपन की शिक्षा अत्यधिक आदर्शवादी होती है, उसके मनोभावों का वैसा ही दमन होता है। पुनः शिक्षा का कार्य रोगी के आदर्श का निर्माण नहीं वरन उसके आदर्शों को व्यवहार्य बनाना है। आदर्शवादिता मनुष्य को अपनी कमजोरी के ज्ञान से वंचित रखती है। अतएव मनुष्य इनसे मुक्त नहीं होता। फिर उसके आदर्श और व्यवहार में एकता नहीं रहती। वह अपने अनजाने अथवा अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने आदर्श के विरुद्ध आचरण करता है। किसी भी प्राकृतिक मनोभाव की आत्म-स्वीकृति न करने से वह एक ओर विकृत हो जाता है और दूसरी ओर उतना प्रबल हो जाता है कि मानसिक विभाजन तथा मानसिक रोग की स्थिति उत्पन्न कर देता है। जिस मनोभाव का जितना ही दमन किया जाता है, वह उतना ही प्रबल और बुरा बनते जाता है। यही मनोभाव रोग में प्रकाशित होता है। पुनः शिक्षा का कार्य इन दमित भावों को चेतना के स्तर पर आने की सहूलियत देने का है।

रोगी का आदर्शात्मक मन उसके उन मनोभावों का दमन करते रहता है, जो उसके जीवन के आदर्श के प्रतिकूल होते हैं। वह इनसे सम्बन्धित स्मृतियों को भी दबाते रहता है। मनुष्य की भावात्मक स्मृतियाँ जितनी ही प्रबल होती हैं, उसे अपने आदर्शात्मक स्वत्व को अर्थात् दमनात्मक स्वत्व को उतना ही प्रबल बनाना पड़ता है। इस तरह अत्यधिक आदर्शवादी मनुष्य का मन विभाजित अवस्था में रहता है। जब तक मनुष्य के आदर्शवादी मन में इतना परिवर्तन नहीं हो जाता कि वह भोगवादी प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव का अंग मान ले, तब तक मानसिक विभाजन की अवस्था का अन्त नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को वे घटनायें याद नहीं आती जिनके कारण उसे मानसिक रोग हुआ। अतएव मानसिक चिकित्सक का सबसे महत्व का कार्य मनुष्य के आदर्श में इस प्रकार का परिवर्तन लाना है, जिससे वह अपनी भोगेच्छाओं को असाधारण न मानकर सामान्य मान ले। और उन्हें अपने जीवन का अनिवार्य अंग जाने। यह पुनः शिक्षा का कार्य बड़ा हो जटिल है। किसी मनुष्य के आदर्श का निर्माण करना कठिन है; उससे अधिक कठिन उसके आदर्श और उसकी जीवन शक्तियों में समन्वय स्थापित करना है। अर्थात् उसके आदर्शों को व्यवहार्य बनाना है। सामान्य आदर्शवादियों की दृष्टि में यह कार्य बहुत

कुछ अनैतिक ही दिखाई देगा। रोगी के आदर्श ऊँचे होते ही हैं। वह इनके प्रतिकूल कुछ नहीं सुनना चाहता। वह नहीं जानता कि इन आदर्शों के पीछे खोखलापन है। ये आदर्श उसके नैतिक दिवालियापन को केवल ढाँकते हैं। यदि किसी रोगी को बताया जाय कि वह वास्तव में अपनी कमज़ोरी को अपने आपसे छिपाता है, तो वह इस ज्ञान के देनेवाले का शत्रु हो जायेगा। नैतिकता का दिवालिया व्यक्ति उच्च नैतिकता धारण करता है और दूसरों की प्रशंसा का लालायित रहता है। वह इस प्रकार अपनी कमजोरी को छिपाता है। परन्तु प्रकृति हमारी किसी कमजोरी को छिपे नहीं रहने देती। वह उसे किसी न किसी प्रकार प्रकाशित करती ही रहती है। अत्युच्च नैतिकतावाले व्यक्ति को बड़े घृणित स्वप्न होते हैं। जब इस प्रकार के स्वप्न होना बन्द हो जाता है तो उसे किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। रोग मनुष्य का प्राकृतिक शिक्षक है। वह बताता है कि उसकी आन्तरिक मनोस्थिति कैसी है।

जो काम रोग दण्ड के द्वारा करता है, वही काम प्रेम के साथ चिकित्सक करता है। परन्तु समय के पूर्व कोई चिकित्सक किसी रोगी की सहायता नहीं कर सकता। जब रोगी का मन अपने रोग से ऊब जाता है तभी वह चिकित्सक की बातों में तथ्य देखने लगता है। और फिर उसके आदेशानुसार अपने जीवन में परिवर्तन करने की चेष्टा करता हैं। रोगी का अपने सिद्धान्तों के साथ भावात्मक सम्बन्ध हो जाता है। वह उनमें सचाई ही देखता है। उनके दोषों के प्रति उसकी दृष्टि ही बन्द हो जाती है। अतएव अगर कोई व्यक्ति इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल कुछ बातें कहे तो वह उसे व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक समझता है। ऐसे रोगी की पुनः शिक्षा अत्यन्त जटिल कार्य है।

हमने अपने मानसिक चिकित्सा के अनुभवों में देखा कि हस्त मैथुन की जटिल आदत उन्हीं किशोर बालकों में रहती है जिन्हें अच्छे नैतिक वातावरण में बचपन से ही रक्खा गया है, जिनके पिता उनके प्रति अत्यन्त सतर्क रहे, और जो स्वयं नैतिकता के बड़े ऊँचे आदर्श रखते हैं। ये बालक जितना ही अपने आपको हस्तमैथुन के लिये कोसते हैं, यह आदत उतनी ही जटिल होती जाती हैं। वे हजार प्रकार के दृढ़ निश्चय इसके प्रतिकूल करते हैं, परन्तु समय आने पर इसके किये विना नहीं रहते। इससे वे अपने आप पर ही विश्वास खो बैठते हैं। फिर यह आत्म-विश्वास का अभाव उनके दूसरे कार्यों में भी देखा जाता है। उनकी स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है। वे चित्त की एकाग्रता खो बैठते हैं। अपने किसी निश्चय पर ही दृढ़ नहीं रहते हैं। सभी लोगों की बातों

में उन्हें सन्देह होने लगता है।

ऐसी अवस्था में जब वे कुछ डरावने लेख इस आदत के विषय में पढ़ लेते हैं तब तो उनकी दुर्दशा का ठिकाना नहीं रहता। वे सभी प्रकार के मानसिक रोगों की तैयारी कर लेते हैं। कभी कभी वे इस आदत को छोड़ने में समर्थ होते हैं तो उन्हें स्वप्न दोष होना शुरू हो जाता है। इससे वे जितना ही डरते हैं वह रोग उतना ही बढ़ते जाता है। कभी कभी यह प्रमेह का रूप ले लेता है। इस अवस्था में मनुष्य को हर प्रकार के रोग, अथवा दूसरी बुराइयाँ अपने में दिखाई देने लगती हैं। ये सभी बातें उस शिक्षा का दुष्परिणाम हैं जो मनुष्य के स्वभाव के सभी तत्वों की अवहेलना कर उसे आदर्श बनाने की चेष्टा करती है। इस व्यक्ति को अब ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे वह अपने को देवता न जानकर सामान्य व्यक्ति ही जाने। इसके लिए उसके उन दबे भावों को चेतना के स्तर पर लाया जाता है जिनके कारण उसके मन में खिंचाव उत्पन्न हुये।

मानसिक रोग अत्युच्च आदर्शवादिता का सहगामी है। मानसिक रोगी को अपने चरित्र की आलोचना असह्य होती है। वह अपने आन्तरिक मन की स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता। इस स्थिति को समाप्त किये बिना उसका रोग समाप्त नहीं होता। पुनः शिक्षा का कार्य रोगी के झूठे अभिमान को हटाना और उसमें आत्म विजय प्राप्ति की क्षमता उत्पन्न करना है। इस प्रसंग में हमारी शिक्षा में आये दो एक व्यक्तियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं।

आज से एक साल पूर्व हमारे पास एक १८ वर्ष का नवयुवक आया। इसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल हस्त मैथुन करने की आदत थी। उसका कहना था कि जब मैं किसी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में यह जान लेता हूँ कि उसे यह आदत है तो उसे बहुत घृणा करता हूँ, परन्तु मैं स्वयं उसमें पड़ा हूँ। यह व्यक्ति बड़ा सदाचारी है। उसके माता पिता भी उसे सदाचारी ही मानते हैं। वह स्वयं किसी प्रकार के अन्य व्यभिचार को अपने में नहीं देखना चाहता। एक बार उसके बड़े भाई ने उसकी माँ से उसके सुनने में कहा कि वह किसी पड़ोसी की बहू के प्रति प्रेम दृष्टि रखता है। इसको सुनकर वह तिलमिला उठा और अपने बड़े भाई को शत्रु समझने लगा।

इस युवक को आरम्भ में बड़ी सांत्वना दी गयी। पीछे उसे अपने स्वप्न लिखने को कहा गया। उसने कई स्वप्न बताये। पहले स्वप्न में उसने देखा कि वह अपने कमरे में बन्द है और सभी प्रकार के जंगली जानवर बाहर से चिल्ला रहे हैं और उसके कमरे का दरवाजा भड़भड़ाते हैं। वह उनसे डर रहा है।

दूसरे स्वप्न में उसने देखा कि बहुत से साँप, बिच्छू और गोजर उसके कमरे

में विद्यमान हैं। ये सब जगह मौजूद हैं। दीवारों पर नजर डालने से ये ही दिखलायी देते हैं। वह बहुत घबड़ा गया है।

इन दोनो स्वप्नों का अर्थ स्पष्ट ही है। पहला स्वप्न उसका अपने सम्बन्धियों के साथ शत्रुता का भाव व्यक्त करता है। वह न केवल अपने बड़े भाई वरन् अपने माता और पिता से भी द्वेषभाव रखने लग गया था। ये लोग उसे शेर, चीते जैसे दिखलायी दे रहे थे। ये इस समय किसी न किसी बात के लिये उसके आलोचक बन गये थे। दूसरा स्वप्न उसका अपने आन्तरिक भावों के प्रति शत्रुतः व्यक्त करता है। उसके दमित भाव अब साँप, बिच्छू, गोजर आदि के रूप में परिणित हो गये थे। इन दोनों स्वप्नों पर हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि रोगी को न तो घर के भीतर आनन्द है और न बाहर। उसे न तो अपने सम्बन्धियों की ही मित्रता प्राप्त हैं और न अपने मनोभावों की। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी जटिल रोग का आवाहन करने लगता है। इस समय इस रोगी को खाँसी, बुखार, आदि रोग हो रहे थे। वह क्षय का भी अभिनय कर रहा था। वह आन्तरिक मनोस्थिति और अपने सम्बन्धियों के व्यवहार से परेशान था अतएव अपने जीवन का ही अन्त करना चाहता था।

रोगी के आगे के स्वप्न बड़े ही विलक्षण थे। ये स्वप्न उसकी पुनः शिक्षा में सहायक हुये। एक दिन रोगी बड़ी निराशा की अवस्था में आया और उसने धीरे धीरे बताया कि उसने स्वप्न में अपने आँपको उसी युवती से प्रेम प्रलाप करते पाया, जिसके प्रति प्रेम दृष्टि रखने का आरोप उसके बड़े भाई ने उसपर किया था। उसने हमसे भी पूछा कि क्या वास्तव में वह इतना पापी है कि वह दूसरे की स्त्री के प्रति भी व्यभिचार की भावना रखता है। जब हमने बताया कि इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, और इस प्रकार के स्वप्न बड़े बड़े महात्माओं को भी होते हैं, तो उसे कुछ शान्ति मिली। उसे बताया गया कि वह अपने भाई से इसलिये ही अधिक रुष्ठ हुआ था कि उसके आन्तरिक मन में वह चोर छिपा था जिसकी ओर भाई ने उँगली उठाई थी। दूसरे लोग हमारी कमजोरियों को सरलता से जान लेते हैं और हम स्वयं उन्हें नहीं जान पाते। इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति से उसे बड़ा लाभ हुआ।

अगले स्वप्न में उसने देखा कि उसके घर का नौकर ही उसकी माँ के साथ व्यभिचार कर रहा है और यह देखकर उसे बुरा नहीं लगता। 'इस स्वप्न को सुनाने में रोगी को उतनी उद्विग्नता नहीं हुई जितनी पहले हुई थी। इस स्वप्न के पीछे छिपा हुआ अर्थ उसे बताया गया। डाक्टर फ्रायड का कथन है कि पिता पुत्र में संघर्ष माता के स्नेह प्राप्ति के लिये ही होता है। जब माँ बेटे को

पति से अधिक प्यार करती है तो पति को बेटे का शत्रु बना देती है। फिर जब वह पुत्र को छोड़कर पति पर अधिक ध्यान देने लगती है तो पुत्र को ईर्ष्यालु बना देती है। इस व्यक्ति के सम्बन्ध में यही हुआ था। माँ पहले इसे इतना अधिक प्यार करती थी कि उसकी सभी मनचाही बातें करती थी। पीछे जब कुछ समय के लिए किशोरावस्था में बालक को बाहर रहना पड़ा तो माँ का ध्यान बड़े भाई के प्रति और पिता के प्रति चला गया। फिर अब ये दोनों उसे शत्रुवत् दिखाई देने लगे।

उक्त सभी मानसिक प्रतिक्रियायें युवक के अनजाने ही उसके अचेतन मन में होती थी। उसका चेतन उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मानसिक रोग उसे इसलिये ही हुआ था। जब युवक ने अपने मनोभावों को जाना तो उसका रोग भी समाप्त हो गया। फिर अपने सम्बन्धियों के प्रति उसके मनोभाव बदल गये।

मनुष्य की पुनः शिक्षा के लिए उसे आत्म-ज्ञान कराना नितान्त आवश्यक है। फिर उसमें आत्म-विश्वास का उदय होता है। वह झूठ ही दिखाऊ आदर्शवादिता को त्याग कर सच्चे नैतिक मूल्यों को अपनाता है। आज भारतवर्ष में मनोविज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि हम अपनी भौतिक तथा नैतिक कमजोरियों को झूठी आदर्शवादिता से छिपा रहे हैं। इसके कारण हमारे देश में मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है। हमारे धर्मशिक्षक सदा आदर्शों की चर्चा करते हैं, परन्तु उन आदर्शों के अनुसार चलने की शक्ति मनुष्य में आती कैसे है, इसका मार्ग नहीं बताते। आदर्शों की चर्चा मात्र से मनुष्य में आत्म-भर्त्सना का भाव तथा इच्छाशक्ति की दुर्बलता आती है। इसी के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। पुनः शिक्षा का कार्य मनुष्य को आत्म-ज्ञान कराकर आत्म-विश्वास बढ़ाना है तथा उसके आदर्शों को व्यावहारिक बनाना है।

बच्चों का भय

भय मनुष्य के लिए एक भयानक वस्तु है। उसके हृदय में प्रवेश करते ही शेर शृगाल बन जाता है। फिर भी हम देखते हैं कि समाज और राष्ट्र में प्रत्येक स्थान पर इस भय-रूपी हथियार का प्रयोग होता है। जैसे इसके बिना कहीं कोई कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकता।

सरकार अपना भय दिखाती है कि नियमों का उल्लंघन होते ही वह दंड देगी। समाज के आज्ञानुसार कार्य न करने से वह बहिष्कार का भय दिखाता है। तात्पर्य यह कि स्थान-स्थान पर, पग-पग पर, हमें भयभीत किया जाता है।

वैसे यदि आप किसी माता-पिता से पूछें कि क्या आप अपने बच्चों को डराते हैं, तो वे तुरन्त उत्तर देंगे 'कभी नहीं। हम बच्चों को कभी नहीं डराते। किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय, तो मालूम होगा कि अधिकांश माता-पिता बालकों को भय दिखाते हैं। कभी उनकी शैतानियों से घबराकर, कभी अपनी आज्ञा मनवाने के लिए और कभी शिक्षित और योग्य बनाने के उद्देश से उन्हें डराया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भय खाए हुए बालक भविष्य में बड़े होने पर भीरू और चरित्र में दुर्बल सिद्ध होते हैं। कोई नवीन कार्य करने में हिचकते हैं। समाज में पिछड़े हुए, दब्बु तथा जीवन को भले प्रकार से भोगने में असमर्थ होते हैं। भय उनके व्यक्तित्व पर भारी प्रभाव डालता है। भय जीवन में शिथिलता और निराशा की नींव डाल देता है।

जान में या अनजान में हम सभी अपने बालकों के सम्मुख दोषी हैं। यह देखकर कि बालक अपने कार्य में व्यस्त है, या खिलौने में लीन है हम बड़े निश्चिन्त हो आपस में सभी प्रकार की बातें करते हैं। ऐसी बातों में बीमारी, मृत्यु, घर की आर्थिक विषम परिस्थिति, सामाजिक भय इत्यादि अनेक प्रकार की बातें होती हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बालक कभी असावधान नहीं रहता है। अपने खेल में व्यस्त दिखाई पड़ते हुए भी वह हमारी प्रत्येक बात को ध्यान से सुनता है। वह भारी जिज्ञासु है। बड़ों की बातें उसके लिए नवीन हैं। अस्तु उन्हें बड़ी रुचि से सुनता है। उपर्युक्त बातें, जिन्हें वह पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है, उसके हृदय पर एक अज्ञात भय को स्थान दे देती हैं।

माता-पिता की अनबन या लड़ाई, जो बहुधा बालक के सम्मुख होती रहती है, उसके कोमल मस्तिष्क पर अस्वस्थ प्रभाव डालती हैं, जिसका उसके बड़े होने पर अनेक रूप में प्रगटीकरण होता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री डी.

एच० लारेन्स अपने बचपन में ऐसे ही भय के शिकार हो चुके थे, जिसकी छाप उनके उपन्यासों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

बच्चों का डरपोक होने का एक कारण माँ-बाप का डरपोक होना भी है। यदि वे ही कायर होंगे और जीवन में प्रत्येक बात से डरेंगे, तो निसन्देह उनका बालक भी स्वभावतः डरेगा। जिसकी माँ अन्धकार से डरेगी, उसका बालक उससे क्यों न डरेगा? जिसका बाप कुत्ते, गाय-बैल आदि से डरेगा, उसका बच्चा भी अवश्य उन वस्तुओं से डरेगा। बच्चे को खिलानेवाले नौकर का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। यदि वह डरनेवाला या डर दिखानेवाला होगा, तो बच्चा भी स्वभावतः इस दुर्बलता को ग्रहण कर लेगा।

कुछ माता-पिता अपने स्वास्थ्य के विषय में सदैव शंकित रहते हैं। 'लू लग जाएगी, सर्दी हो गई है' इत्यादि बातों से वे सदा भयभीत रहते हैं। इनकी सन्तान भी बड़े होने पर अपने स्वास्थ्य के विषय में सदैव चिन्तन करनेवाली बनती है। बड़ों को चाहिए कि वे ऐसे वार्तालाप न करें, जो छोटों पर विपरीत प्रभाव डालनेवाले हों। यदि किसी कारण-वश बच्चों पर भय के चिह्न लक्षित हों, तो उन्हें परोक्ष रूप में ऐसे निर्देश दें, जो उनके भय की दुर्बलता को दूर करनेवाले हों। किन्तु निर्देश देने में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। बच्चों से कभी ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए, जो बच्चों की श्रद्धा और विश्वास को डिगानेवाली हो।

माँ को जब औषधि पिलानी होती है, तब वह बच्चे को पुचकारती है, फुसलाती है और कहती है—'दवा बहुत मीठी है—पी लो बेटा!' किन्तु दवा पीने के बाद बच्चा जानता है कि बात दूसरी है और 'बहुत मीठी' के स्थान पर दवा 'बहुत बुरी है, बहुत कड़वी है!' तब उसका विश्वास माँ पर से उठ जाता या कम हो जाता है। फलतः आगे चलकर वह माँ की आज्ञाओं को टालनेवाला बन जाता है और किसी बात पर विश्वास करने से हिचकता है। ऐसे समय साफ़ झूठ बोलने से अच्छा है कि माँ कहे कि—'यद्यपि दवा का स्वाद अच्छा नहीं है; किन्तु तुम समझदार बच्चे हो, तुम बहादुरी से इसे पी लोगे और इस तरह तकलीफ से बच जाओगे।'

माता-पिता से पर्याप्त प्रेम न पाना भी बच्चे के भय का एक कारण है। बहुधा वे अपने बच्चों से कहते हैं—'देखो, यदि तुम हमारी आज्ञा नहीं मानोगे, तो हम तुम्हें प्यार नहीं करेंगे।' ऐसी बातें बच्चों से कहना उनके प्रति भारी निर्दयता दिखाना है। बच्चा अपनी माँ या बाप के प्यार पर विश्वास रखता है। वह उस प्यार पर अपना अधिकार समझता है। अधिकार की वस्तु भी

छिन सकती है ऐसी भावना उसके कोमल मस्तिष्क को धक्का पहुँचाती है। प्यार परिवर्तनशील है, ऐसा आभास उसको नहीं होना चाहिए। प्यार का अभाव बच्चे के लिए असह्य होता है। ऐसी बातों को सुनते रहने से उसकी दृष्टि में माता-पिता के प्यार का कोई मूल्य नहीं रह जाता और वह रूखा तथा ढीठ बन जाता है। विश्वास और प्यार के अभाव उसमें भय उत्पन्न कर देते हैं। वह चिड़चिड़ा और ईर्ष्यालु बन जाता है तथा अपने से छोटे तथा बुद्धिमान भाई-बहिनों के प्रति ईर्ष्या रखने लगता है।

यदि बालक अपने घरके वातावरण में ही अपनेको सुरक्षित नहीं समझता या माता-पिता के प्रति पूर्ण विश्वास के भाव नहीं जमा सकता, तो प्रत्येक प्रकार के भय का शिकार होना उसके लिए स्वाभाविक है। जिस प्रकार नवजात अबोध बालक माँ की गोद में निर्भय हो चिपक कर सो जाता है, उसी प्रकार उसे आगे भी बड़ों की ओर से अभय-दान मिलना चाहिए और विश्वास तथा प्रेम के प्रति यह अभय-दान उसमें बड़े होने तक बने रहना चाहिए।

बहुधा माताएँ बच्चों के हृदय में उनके पिता के प्रति भी भय उत्पन्न करा देती हैं—'आने दे तेरे बाबूजी को, देखना कैसी मार डलवाती हूँ। तेरी सब शिकायतें करूँगी उनसे।' ऐसा कहना भारी भूल है। बाल-मनोविज्ञान के अभाव में बड़े अपने बच्चों के प्रति बहुत अन्याय कर बैठते हैं। सिपाही से पकड़ाना, जू-जू को बुलाना, अनेक प्रकारकी विचित्र आवाज करके डराना अपने भारतीय माताओं की विशेष आदतें हैं। रात में बच्चे को घर के दरवाजे पर खड़ा करके द्वार बन्द कर देना, या अँधेरी कोठरी में बन्द कर देना भी शैतान बालकों के लिए साधारण दंड है। उस समय अपनी परेशानी से बचने के लिए या बच्चे को आज्ञाकारी बनाने के लिए मूर्ख माता-पिता ऐसा करते हैं। उन्हें उस समय इसका अनुभव नहीं होता कि वे अपनी सन्तान को शरीर और मस्तिष्क दोनों से ही अयोग्य बना रहे हैं।

जो बात आज छोटी दिखलाई पड़ती है, वही कल विकराल रूप भी धारण कर सकती है। आज की साधारण बात कल असाधारण भी बन जाती है और उसे सुधारना कठिन हो जाता है। अस्तु बालक का भय चाहे कितना ही क्षुद्र और साधारण क्यों न हो, उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बच्चे के लिए कल्पना और वास्तविकता में विशेष अन्तर नहीं होता। छाया का शेर भी उसे उतना ही भयानक मालूम पड़ता है, जितना वास्तविक शेर। उसकी कल्पना को किसी प्रकार की बहस या तर्क नहीं मिटा सकता। छाया से डरनेवाले बालक वास्तव में बड़े कल्पना-प्रिय तथा भावुक होते हैं। ऐसे बालकों को उनकी रुचि

के कार्य, खेल तथा अन्य प्रकार के मनोरंजनों में लगाए रखना चाहिए। उन्हें इतना समय ही न दिया जाय कि वे व्यर्थ की कल्पना या चिन्तन में ध्यान लगायें।

प्रत्येक प्रवृत्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों हो सकता है। प्रवृत्तियाँ जल के वे प्रवाह हैं, जिन्हें उचित मार्ग पर बहाकर लाभ उठाया जा सकता है और जो मनमानी राह पर बहकर अनेक अकथनीय आपत्ति को उत्पन्न कर सकती हैं। भय के विषय में भी यही बात है। इनका भी उपयोग हो सकता है।

एक बालक में मां के प्रति अटूट विश्वास रहता है और ऐसा अटूट विश्वास भय को पास नहीं फटकने देता। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, तैसे-तैसे वह अपने कार्य के लिये अपने पर ही निर्भर होने की चेष्टा करता है। अपने दूध की बोतल वह स्वयं पकड़ना चाहता है, स्वयं चम्मच से खाना चाहता है तथा स्वयं बिना सहारा लिए खड़े होना और चलना चाहता है। माता-पिता उसकी आत्म-निर्भरता में सहायक होते हैं। यहीं भय की उत्पत्ति की संभावना होती है। अपनी चेष्टा में बच्चा असफल भी होता है। उसे चोट भी लगती है। माता-पिता की चेतावनी—'अरे, देख दौड़ मत, गिर जायेगा!—अरे आग लगी भाग!' इत्यादि बातों में ही बच्चा डर जाता है। यह सच है कि यदि उसे चेतावनी न दी जाय, तो भी खतरा है। ऊपर से गिरने में अंगक्षति या प्राण जाने का भय, आग में जल कर मरने का भय, पानी में डूब जाने का भय, इत्यादि रहते हैं। किन्तु यदि ये चेतावनियाँ धैर्य से तथा उचित रीति से दी जायँ, तो ठीक है। उचित निर्देश तथा संकेतों द्वारा अभिप्राय की सिद्धि हो सकती है। सड़क पर मोटर, तांगे आदि से बचकर चलना, वर्षा में सांप-बिच्छू आदि से सावधान रहना, बीमारियों से बचकर रहना, बिजली तथा मशीन आदि से बचना बच्चों को सिखाना जरूरी है। बहुत सी बातें तो हम कथा के रूप में बता सकते हैं। दूसरों के उदाहरण देकर भी सावधान कर सकते हैं।

आज के उन्नतिशील मनोविज्ञान ने भय का भयानक रूप हमारे सम्मुख रख दिया है। हमें उससे लाभ उठाना चाहिए। डाक्टर कैनन ने भय का प्रयोग एक बिल्ली पर किया था। बिल्ली के सम्मुख एक कुत्ते को खड़ा करके बिल्ली के आमाशय का एक्स-रे लिए जाने पर देखा गया कि उसकी पाचन-क्रिया बन्द हो गई। अस्तु यह सिद्ध होता है कि भय केवल मस्तिष्क पर ही नहीं, बल्कि शरीर को भी क्षति पहुँचाता है। उस बिल्ली को अपनी साधारण स्थिति में आने में कई घण्टे लगे थे। भय दिखाना, दंड देना आदि आगे चलकर बच्चों के जीवन में भयानक अपराधों की नींव डालते हैं।

बालक को नियमों का पालन करवाना चाहिए, क्योंकि उसे समाज में रहना

है। उसे अपनी इच्छाओं और क्रियाओं पर संयम रखना भी आना चाहिए; किन्तु ये शिक्षायें भय या दंड से नहीं देनी चाहिए, अन्यथा उनका विपरीत प्रभाव पड़ेगा। बच्चा कोमल होता है। उसके साथ मधुरता और कोमलता से ही व्यवहार करना चाहिए।

—शकुन्तला सिरोठिया, एम० ए०

गीत

मैं तुम्हारी वाटिका के फूल को भी
और तीखे शूल को भी प्यार करता।
लाख रंगों से, करोड़ों अचरजों से
वाटिका अगणित रहस्यों से भरी है,
सुरभि से उन्मत्त है कोई दिशा पर
दूसरी ही ओर विष की वल्लरी है;
हे महामाली! तरल रसविंदु के ही
साथ मैं कटु गरल अंगीकार करता।
मलय का शीतल समीरण नित सवेरे
स्पर्श कर कलि को जगा दे तीव्र पुलकन,
या सदा छाया रहे निष्प्राण पतझर
और विलखा करे जर्जर रुग्ण उपवन,
विहँसते सुकुमार सुरभित सुमन के ही
साथ सूखे पात मैं स्वीकार करता।
मृदुल किसलय-राग में यदि हास तेरा
तो विरस तरुपात में छाया तुम्हारी,
चाँदनी में यदि तुम्हारा रूप मादक
कालिमा भी तो तुम्हारी ही बिचारी;
कनक-मंगल-प्रात के ही साथ काली
रात का भी मैं सदा सत्कार करता।
मैं तुम्हारी वाटिका के फूल को भी
और तीखे शूल को भी प्यार करता।

—कमलाकर मिश्र

क्रियात्मक शिक्षा

जीवित प्राणी एवं आत्मा का जिस प्रकार अटूट सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्राणी एवं क्रिया का भी है। जीव-जन्तु और मनुष्य सभी में हम क्रियाशीलता देखते हैं। शिशु की क्रियाशीलता हम उसके खेल में देखते हैं। फ्रायवेल के मतानुसार खेल शैशवकालकी नैसर्गिक क्रिया है। वह बाल-विकास का एक प्रधान अंग है और शिशुकी अन्तरात्माका प्रगटीकरण है। खेल मनुष्य की इस अवस्था की अत्यन्त पवित्र आध्यात्मिक क्रिया है। मानव-प्राणी के छिपे हुए नैसर्गिक जीवन का दर्शन हमें उसमें प्राप्त होता है। वह हमें उल्लास, स्वतंत्रता, सन्तोष तथा बाह्य एवं आन्तरिक शान्ति प्रदान करता है। संसार में जो कुछ भी अच्छा है, उसका यह मूल स्रोत है।

खेल को शिक्षाप्रद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिशु का खेल उद्देश्य-हीन न हो। अतः उसकी खेल-सम्बन्धी क्रियाएँ उपयुक्त वस्तुओं-द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित होनी चाहिए। फ्रायवेल कहता है कि बिना नियमित परामर्श के शिशु की क्रियाएँ उसे जीवन के उपयुक्त न बनाकर, केवल उद्देश्य-हीन खेल ही रह जायेगी। किन्डर गार्डन में खेल का रूप इस प्रकार से नियन्त्रित रहता है कि वह प्रकृति-द्वारा अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति कर सके तथा विकास में सहायक हो सके। मानवीय शिक्षा के लिए एक परामर्शदाता की आवश्यकता पड़ती है, जो कि विकास के सामान्य नियम में पाया जाता है तथा जो प्रकृति तथा मानसिक जगत पर शासन करता है। बिना नियमित परामर्श के स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं है।

खेल जब कि शैशवावस्था की नैसर्गिक क्रिया है, कार्य बाल्यावस्था की है। क्रिया में रुचि ही सृजन में रुचि उत्पन्न करता है। शिशु उसे क्रियाशीलता के लिए करता है, पर बालक सृजन के हेतु करता है। यदि क्रिया शिशु में उल्लास उत्पन्न करती है, तो बालक में प्रसन्नता। शैशवावस्था में खेल का उद्देश्य क्रियाशीलता है, पर वही बाल्यावस्था में निश्चित रूप ग्रहण करके चेतनायुक्त हो जाता है। खेल केवल एक सामान्य क्रिया होती है, पर कार्य संचालित तथा उद्देश्यमय होता है। उसके कार्य का रूप वातावरण के अनुरूप होता है तथा वह व्यवसाय से सम्बन्धित हो सकता है। बालक के लिए यह एक दूसरे प्रकार का खेल हो जाता है। बाल्यावस्था की क्रियायें अपने द्वारा चुनी हुई होती हैं तथा उनका कोई आर्थिक महत्व नहीं होता। शैशवावस्था में शिशु घर में होनेवाले कार्यों का अनुकरण करता है, पर बाल्यावस्था में समीपवर्ती वातावरण के व्यवसायों

का। वातवरण के क्षेत्र के विस्तृत होने पर उसका विकास बहुत कुछ निर्भर करता है। फ्रायवेल ने खेल तथा कार्य में एक प्रकार की एकता का अनुभव किया है और दोनों को आत्म-प्राप्ति का साधन माना है।

बालक की क्रियायों में व्यावहारिक समस्याओं—जिनमें सहकारी प्रयत्न तथा मानसिक एवं नैतिक शिक्षा प्राप्त करने के स्रोत का समावेश रहता है—के गुण विद्यमान रहते हैं। शैशवास्था में व्यक्ति घर के कामों में केवल बराबरी करने का प्रयत्न करता है, पर बाल्यावस्था में वह घर के कामों, पानी भरने, सामान उठाने-रखने आदि में सहयोग देता है। बाल्यावस्था में साधारणतः प्रत्येक बालक को कार्य करने का उत्साह रहता है। अतः उसके स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसे कार्य करने का अवसर मिले।

इसी कारण से फ्रायवेल विद्यालय के पाठ्यक्रम में शारीरिक परिश्रमयुक्त (जिसमें कुछ काम करना पड़ता है) शिक्षा के पक्ष में था। क्रियात्मक कार्य बालक के व्यक्तित्वके विकासके लिए अत्यन्त आवश्यक है। वह कहता है कि प्रत्येक शिशु, बालक तथा युवकको, चाहे वह जिस परिस्थिति में हो, प्रतिदिन क्रियायुक्त कार्य करना चाहिये। वर्तमान समय में शिशु तथा समूची मानवता ही उद्देश्य-हीन क्रियाओं में लगी है तथा कार्य कम करती है। बहुत से बच्चे तथा माता-पिता काम को हेय दृष्टिसे देखते हैं और उसे अपने भावी जीवनके लिए महत्वहीन समझते हैं। अतः शिक्षा-संस्थाओं का यह प्रयत्न होना चाहिये कि वे इस असत्य भावना को शीघ्रातिशीघ्र दूर करें। आज घर तथा विद्यालय की शिक्षा कुछ इस प्रकार की है, जो बालकों में व्यापक शिथिलता उत्पन्न कर रही है। इस प्रकार मानव-शक्ति का अधिकांश भाग अविकसित रह जाता तथा नष्टप्रायः हो जाता है।

शारीरिक परिश्रमयुक्त शिक्षा के अतिरिक्त फ्रायवेल चित्रकला, प्राकृतिक अध्ययन तथा उद्यानकला को भी महत्व देता है। हरबार्ट के समान वह भी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को शिक्षा का उद्देश्य मानता था। इसी कारण उसने शिक्षा में विभिन्न विषयों को स्थान दिया है।

हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि खेल बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक है तथा आत्मक्रिया की अभिव्यक्ति है। मनोविज्ञान यह सिद्ध कर चुका है कि आत्मक्रिया बालक को शिक्षित करने का एकमात्र प्राकृतिक साधन है, जिसका उपयोग करने में बालक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। प्रकृति-प्रेमी फ्रायवेल को इससे उत्तम कोई साधन नहीं मिला। अतः उसने इसी को आधार बनाया। बालक की निरीक्षण-शक्ति, जिज्ञासा तथा रचनात्मकता का

प्रयोग किन्डर गार्डन-प्रणाली में ऐसी क्रियाओं-द्वारा हुआ है, जिनसे बालक लिखना, पढ़ना तथा साधारण गणित का ज्ञान अनायास ही प्राप्त कर लेता है। स्वतन्त्रता और खेल के द्वारा वह सामाजिकता का पाठ पढ़ता है।

सामान्यतः बालक का प्रारम्भिक जीवन स्वयं संचालित क्रियाओं में व्यतीत होता है। वह खेल में इतने पूरे मन से, इतनी सहजता और सम्पूर्णता के साथ इतनी स्वच्छन्दता और सचाई तथा इतनी उत्सुकता से व्यस्त रहता है, कि उसकी कोई अन्य क्रियायें ऐसी नहीं होती। बालक की रुचि का गत्यात्मक स्वरूप खेल होता है। अतः जो कुछ भी बालक को सिखाया, उसे खेल-रीति से सिखाना ही सरल होगा।

खेल-सम्बन्धी क्रियाओं में बालक की सहज रुचि होती है, अतएव उसे शिक्षा का माध्यम बनाने का अर्थ शिक्षा को भी उसी प्रकार आनन्ददायक, मनोरंजक और आकर्षक बना देना है, जैसा बालक के लिए खेल होता है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान कलिग्रूस का कथन है कि खेल के द्वारा बालक अपने भविष्य के जीवन की तैयारी करता है। खेल प्रकृति की पाठशाला है, जिसमें व्यक्ति भावी जीवन के लिए उपयोगी आचरण की शिक्षा ग्रहण करता है।

इस प्रकार बाल्यावस्था में व्यक्ति उन सभी क्रियाओं का अभिनय करके पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेता है, जिन्हें उसे प्रौढ़ावस्था में करना पड़ेगा। इस पूर्वाभिनयवाद (एण्टीसिपेटरी थ्योरी) से स्पष्ट है कि बालकों का खेल उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करता है। शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। अतएव यदि खेल और शिक्षा में परस्पर सहयोग हो, तो बालक की तैयारी अति उत्तम हो सकती है तथा उसका स्वाभाविक एवं संतुलित विकास हो सकता है।

खेल को ही शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण किंडर गार्डन और मांटसोरी क्रीड़ा-शिक्षण प्रणालियों को शिक्षा जगत्में मान्यता प्राप्त हुई है। क्रियात्मक कार्य को महत्ता प्रदान करने के कारण ही प्रोजेक्ट, डाल्टन तथा स्वयं ज्ञान-पद्धति को शिक्षा-शास्त्रियों ने ग्रहण किया है। महात्मा गांधी-द्वारा प्रवर्तित बेसिक शिक्षा प्रणाली में भी क्रियात्मक कार्य को प्रधानता दी गयी है, इसी कारण से उसका प्रचार सम्भव हो सका है। इस प्रकार खेल एवं क्रिया का शिक्षा-जगत से सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन निकट होता जा रहा है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि खेल यदि शिक्षा जगत का हृदय है, तो क्रिया उसकी आत्मा है। शिक्षाजगत में इनको उपयुक्त स्थान देने में मानवता का कल्याण संभव है।

—नरेन्द्र बिहारी अग्रवाल बी. एस. सी. एम-एड.

———

अकारण भय तथा चिंता से मुक्ति

(एक मानसिक रोगी का व्यक्तिगत अनुभव)

जब मैं काशी आया था, तब मुझमें अत्यन्त बेचैनी थी। मैं किसी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह सकता था। मन में अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न हो जाया करते थे। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने को तैयार होता, तो अकारण पेशाब होने लगती थी। ऐसा मालूम होता था कि कहीं परीक्षा-भवन में पेपर करते समय पेशाब न लग जाए और मैं परीक्षा न दे पाऊँ। इस भय के कारण मैं एक पग परीक्षा-भवन के भीतर रखता और एक पग पेशाब करने के लिए बाहर को मोड़ता। इस प्रकार मैं पेशाब करने जाता। परन्तु जब वहाँ से लौटता, तो फिर उसी प्रकार की मनोदशा हो जाती और फिर वही भय उत्पन्न हो जाता। इस परेशानी के कारण मेरे हाथ एवं पैर से पसीना निकलने लगता था।

इसी प्रकार जब मैं किसी का भाषण सुनने अथवा क्लास में पढ़ने जाता, तो यही भय मालूम पड़ता। कहीं इन्टरव्यू के पन्द्रह मिनट पहले भी यही मानसिक दशा हो जाती थी। इस रोग का कारण जानने के लिए मैंने शुक्ल जी की किताबें पढ़ीं और उसके पश्चात् मुझे रोग का कारण ज्ञात हुआ। इसलिये मैंने शुक्ल जी से मिलने का निश्चय किया। जब मैं जुलाई १९५४ में काशी में आया, तो पहिले दो सप्ताह में मैंने शुक्ल जी से भेंट की। उन्होंने मेरी बातें धैर्य-पूर्वक सुनीं और कहा कि इस रोग की जड़ इच्छा-शक्ति की कमजोरी में है।

जब मैं इस रोग से पीड़ित था, तो मुझे भविष्य के विषय में चिन्ता होती थी। परीक्षा-भवन में जाने के पूर्व रात भर परेशान रहता था, चाहे परचे की तैयारी कितनी ही अच्छी क्यों न हो। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने लगता, तो मुझे ज्ञात होता कि कोई चींटी मेरे जूते के नीचे पड़ गई है और वह दब कर मर गई। अब यह मालूम होता था कि इस पाप से मेरा पेपर खराब हो जायगा तथा मैं फेल हो जाऊँगा। वास्तव में चींटी दबी नहीं रहती थी। यह हमारा केवल भ्रम था।

मैं छात्रावास में रहता था। यदि किसी समय चाय में चीनी कम हुई और एक चम्मच चीनी अपने बगल के विद्यार्थी के डब्बे से उसकी अनुपस्थिति में ले ली, तो मन में यह विचार उठा करता था कि जब वह विद्यार्थी आयगा, तो वह वार्डेन से मुझपर चीनी-चोरी का अभियोग लगा देगा और इसके कारण संभवतः मुझे छात्रावास छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिये कभी-कभी मैं अपने बगल के

कमरेमें चम्मच भर चीनी लेने जाता और उस चीनी को बिना अपनी चाय के कप में डाले फिर से उसी के कमरे में चुपके से मुझे चीनी डालने जाना पड़ता था।

मैं अपने आप दिन भर सोचते रहता। अपने अनेक प्रकार के दोषों का चिन्तन कर अपने को नीच व पापी समझता था। मैं सभी लोगों पर अकारण शक किया करता था। यदि मैं सभी शंकाएँ लिखूँ, तो एक हजार पृष्ठ से ऊपर की पुस्तक बन जाय। इसके कारण न तो मैं पढ़ पाता था, और न संसार के किसी कार्य में मेरा मन ही लग पाता था।

मैं किसी भी कार्य को देर तक नहीं कर पाता था। मैं कभी प्रयाग विश्व-विद्यालय पढ़ने जाता, तो वहाँ मालूम पड़ता था कि काशी विश्वविद्यालय अच्छा पड़ेगा। जब काशी आता तो, लखनऊ जानेका विचार आता और जब लखनऊ पहुँचता, तो प्रयाग एवं काशी का ध्यान आता। इस प्रकार मैं किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँच पाता था। मैं जब विज्ञान पढ़ता, तो कला पढ़ने की इच्छा होती और जब कला पढ़ने का विचार करता, तो विज्ञान की इच्छा होती। मैं हर समय अपने आप से क्रोधित रहा करता था। बात-बात में गुस्सा हो जाया करता था।

शुक्लजी ने इन सब रोगों का कारण इच्छा-शक्ति की कमजोरी को बतलाया। जिन लोगों की नैतिक शिक्षा अच्छी होती है और फिर भी वे किसी प्रकार के काम-कृत्य में अपने विवेक के प्रतिकूल पड़ जाते हैं, वे आत्म-भर्त्सना करने लग जाते हैं। इस आत्म-भर्त्सना से मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। शुक्ल जी ने मेरी काम-वासना-सम्बन्धी सब घटनाएँ पूछीं। मैंने उन्हें सच-सच बताया। इससे मेरे हृदय का भार हल्का हो गया। मैं अब पुरानी मानसिक दुर्बलता से बिल्कुल मुक्त हूँ। मैंने एम० ए० Previous की परीक्षा जब पास की थी, तब मन में कुछ सन्देह थे, परन्तु M. A. Final की परीक्षा देते समय मेरे सभी सन्देह नष्ट हो चुके। इसी बीच मेरे एक पुत्र का जन्म हुआ और मेरे मन में उपस्थित काम-वासना-सम्बन्धी अनेक सन्देह नष्ट हो गये।

नोट—[मनुष्य की भावनाओं और उसकी बुद्धि अर्थात् नैतिकता में संघर्ष होता ही रहता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ अथवा सुखात्मक इच्छाएँ समाज के लिए अहितकर होती हैं तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा में बाधा पहुँचाती हैं। अतः मनुष्य का अहंभाव उन्हें दमित कर देना चाहता है। इस दमन के परिणाम-स्वरूप मनुष्य में अनेक प्रकार की असाधारणताएँ आ जाती हैं।

उक्त छात्रको काम-कुटेव-सम्बन्धी आदत थी, जिसे उसे बाध्य होकर करना ही पड़ता था। उसकी नैतिक बुद्धि भी प्रबल थी। अतएव वह मानसिक संघर्ष एवं

आत्म-ग्लानि की अनुभूति करता था। एक ओर तो वह अपनी बुरी आदतों के लिए आत्म-भर्त्सना करता था, और दूसरी ओर उसे यह भय भी हो गया था कि इस कु-प्रवृत्ति के कारण वह जीवन में सफल नहीं हो सकेगा। छात्र को इस मानसिक व्यथा से बचाने के लिए उसकी नैतिकता ने उन बुरे भावों को दमित तो कर दिया था, पर वे प्रतीक-रूप में चेतना के समक्ष आ ही जाते थे। चींटी के प्रति सतर्कता अथवा एक चम्मच चीनी लेने में चोर्यवृत्ति का आक्षेप उसके पूर्वकृत अनैतिक कर्मों की अतिपूर्ति मात्र थी, अर्थात् उसकी नैतिकता उसे यह भुलावा (जिससे वह ग्लानि जनक स्थिति को भूल जाए) देती थी कि देखो तुम कितने नैतिक व्यक्ति हो कि बिना पूछे किसी के डब्बे से एक चम्मच चीनी भी नहीं ले सकते, अथवा लेते भी हो, तो फिर उसे रख (वासनाओं पर विजय) आते हो। कल्पित चींटी के हत्या-जनित पाप से परीक्षा में फेल होने का भ्रम विस्मृत कुकार्यों के परिणाम-स्वरूप जीवन में असफल होने के भय का प्रतीक मात्र है। परीक्षा अथवा इन्टरव्यू के समय बार-बार पेशाब का लगना उसके इस दमित दुर्बल मनोवृति का द्योतक था कि वासनाओं के आवेग में कहीं उसकी नैतिकता बह न जाए, अर्थात् उक्त छात्र को यह संदेह था कि कठोर परीक्षा में उसकी नैतिकता टिक न सकेगी। इन सब बातों की आत्म-स्वीकृति और चिकित्सक की ओर से प्रोत्साहन पाने पर इस छात्र का रोग जाता रहा। सम्पादक]

मिलन

सुनकर यह कि कान्त मेरे बड़े हैं सलोने,
विह्वल हुई मैं खिली मन-ही-मन में;
मगन हो लगी यश गाने दिन-रैन मैं,
पर मिलन न हुआ हा, कभी भी सपन में;
वसंत बीत गया यों ही, पी-पी पुकार कर;
आया निदाघ निर्दय, तव मेरे द्वार पर;
बिखर गए अंचल के सुमन सब,
टूटी आश-लता प्रबल वात पाकर,
सहसा उसी क्षण लीं थाम बाहें, प्रभो तुमने आकर;
देखा जो रूप तो, नयन मेरे थे नहीं,
वाणी जो सुनी, तो भाषा ही भुल गई!

जीवन का नया दर्शन

जीवन के दर्शन दो प्रकार के होते हैं। एक त्यागवादी एवं दूसरा विकासवादी। संसार के अधिक विद्वान त्यागवादी दर्शन का ही प्रसार करते रहते हैं। अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना, इच्छाओं को कम करना एवं संसार से अनावश्यक सम्बन्ध न रखना तथा यदि सम्भव हो, तो जनहीन स्थान में निवास करना त्यागवादी दर्शन की मूल शिक्षा है। इसके प्रतिकूल विकासवादी दर्शन हमें यह बताता है कि मनुष्य संसार से अपने आपको हटाकर, इन्द्रियों को उनके व्यापार से विरत करके आन्तरिक शान्ति एवं शक्ति की प्राप्ति नहीं करता, वरन् वह आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाता है। उसका जीवन निराशावादी, चिन्तायुक्त, उद्योगहीन एवं दयनीय बन जाता है। वह सदा अपने आपको अपनी त्रुटियों एवं इच्छाओं के कारण कोसते रहता है। इस प्रकार न केवल वह अपने ही आनन्द का सर्वनाश कर देता है, वरन् दूसरों को भी निकम्मा, असहाय एवं निराशावादी बना देता है।

जीवन का नया दर्शन यह बतलाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व में जितने भी तत्व हैं, वे सब दैविक हैं। मनुष्य की इच्छा ही सृष्टि की निर्मात्री है। सृष्टि का निर्माण व्यर्थ नहीं हुआ है। समाज में रहे बिना मनुष्य अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर ही नहीं सकता। उसे जगत से अपना तात्त्विक सम्बन्ध समझना ही होगा। जो लोग जगत से मुख मोड़ते हैं, वे वास्तव में जीवन से ही मुख मोड़ते हैं। मनुष्य का शरीर एवं उसकी इन्द्रियाँ व्यर्थ नहीं हैं। मनुष्य की इच्छा ने ही उनका निर्माण किया है। जहाँ मनुष्य की इच्छा ने एक ओर इन्द्रियों का निर्माण किया, वहीं दूसरी ओर उसी ने बाह्य जगत के उन पदार्थों का भी निर्माण किया, जिनमें इन्द्रियाँ व्यापार करती हैं। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसकी दैविक शक्तियाँ हैं। आध्यात्म वादियों ने इन्हें 'देव' की संज्ञा दी है। 'शोपेनहावर' ने संसार के दृश्य पदार्थों का कारण सूर्य को नहीं, प्रत्युत आँखों को माना है। व्यक्ति को दृश्य-ज्ञान देने वाले उसके चक्षु ही हैं। समष्टि को दृश्य-ज्ञान सूर्य के द्वारा होता है। परन्तु चक्षुओं के अभाव में सूर्य की उपस्थिति निरर्थक हो जाती है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से चक्षु का जितना महत्त्व है, उतना सूर्य का नहीं।

जिस प्रकार मनुष्य के चक्षु उसकी दैविक शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उसकी अन्य कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ भी उसकी दैविक शक्तियाँ ही हैं। ये सभी आत्मा की सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमानता एवं परमानन्द के साक्षात्कार के साधन

है। मनुष्य की बुद्धि ही सरस्वती देवी है। इस देवी की नित्य प्रति आराधना करने से मनुष्य को तत्व-दर्शन होते हैं। अतएव जो मनुष्य अपनी इन दैविक शक्तियों को इनके उपयुक्त कार्यों में जितना ही अधिक लगाये रहता है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक तत्व का साक्षात्कार और परमानन्द की प्राप्ति करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि मनुष्य की इच्छा का विकास धीरे-धीरे होता है। बचपन में प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी ही होता है। उसकी अधिकांश इच्छायें शारीरिक सुख-सम्बन्धी ही होती हैं। वह दूसरों से स्नेह चाहता है। जो व्यक्ति उसे शारीरिक सुख प्राप्त करने में जितना ही अधिक सहायता प्रदान करता है, वह उसका उतना ही प्यारा होता है। जिस बालक के बचपन के शारीरिक सुख एवं प्रेम-प्राप्ति की इच्छा समुचित रूप से तृप्त होती है, वही जीवन के नैतिक मूल्यों की पहचान कर सकता है। जिस व्यक्ति की उक्त प्राथमिक आवश्यकताओं का कठोरता-पूर्वक दमन कर दिया जाता है, वह जीवन की प्रगति में आगे कदम बढ़ाने की प्रेरणा की अनुभूति न कर पीछे भागने की ही ही खोज में रहता है। मनुष्य के जीवन में पुरोगामिता एवं प्रतिगामिता की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का खेल देखा जाता है। आन्तरिक मन से संतुष्ट व्यक्ति पुरोगामी होते हैं। वे सदा आशावान, क्रियावान एवं पुरुषार्थी होते हैं। जिन लोगों के बचपन की इच्छायें तृप्त नहीं होतीं, जो अपने बड़ों के प्रेम के भूखे ही रह जाते हैं, वे शरीर से तो बढ़ते हैं एवं बुद्धि से अनेक प्रकार के विचारों को ग्रहण करते रहते हैं परन्तु हृदय से वे बच्चे ही बने रहते हैं। कितने ही वयोवृद्ध दार्शनिक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों से उद्विग्न मन हो उठते हैं। संसार को इच्छा-त्याग का सुन्दर व्याख्यान देनेवाले व्यक्ति स्वयं धन की वृद्धि अथवा काम-वासना की तृप्ति के लिये ऐसे साधनों का उपयोग करते हैं, जिसे साधारण अशिक्षित व्यक्ति भी नैतिक दृष्टि से घृणित मानता है। इङ्गलैंड के एक प्रसिद्ध विद्वान को, जो वहाँ के अनेक सांस्कृतिक परिषदों का अध्यक्ष था, बिना टिकट की यात्रा करते हुए हाल में ही पकड़ा गया। कृपलानी जी की अध्यक्षता में 'रेलवे इन्क्वायरी' कमिटी ने रेलवे विभाग में होनेवाले अनेक प्रकार के भ्रष्टाचारों की जो चर्चा की है, उसमे कुछ देश-विख्यात विद्वानों के नाजायज रूप से अपने तथा दूसरों के सफर कराने की चर्चा की गई है। ये लोग नैतिक मूल्यों से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे मानव-जीवन के नैतिक मूल्यों पर न केवल सुन्दर प्रवचन ही कर लेते हैं, वरन् इन्होंने जन-साधारण के हितार्थ अच्छे-अच्छे ग्रन्थ भी लिख डाले हैं। इसी तरह कितने ही लब्धप्रतिष्ठ विद्वान एवं

धर्म के मर्मज्ञ अपनी वृद्धावस्था में नाजायज रूप से अपनी वासना की तृप्ति करते पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनहोनी घटनाओं के घटित होने का प्रधान कारण यही है कि उनके बचपन और किशोरावस्था में उनकी सामयिक इच्छाओं की समुचित तृप्ति नहीं हुई। परिस्थितियों की प्रतिकूलता अथवा अभिभावकों की नासमझी के कारण उन्हें अपनी निम्नकोटि की इच्छाओं को तृप्त करने का अवसर न मिला। ये इच्छायें दमित रहकर उनके प्रौढ़ जीवन में उनकी प्रगति में रूकावट डालती रहीं और उनके बुढ़ापे में, जब कि मनुष्य का अहंकार शिथिल हो जाता है, उन्हें बलात् घसीट कर मानसिक बचपन की ओर ले जाने लगीं। यदि इन व्यक्तियों के बचपन की इच्छायें बचपन में ही तृप्त हो गई होतीं, तो उनका सम्पूर्ण जीवन ढोंग न बन जाता एवं उनकी प्रतिभा का समाज को मौलिक लाभ होता।

मनुष्य की इच्छायें तीन प्रकार की होती हैं। एक वैयक्तिक शारीरिक सुख सम्बन्धी, दूसरी सामाजिक भावना सम्बन्धी, एवं तीसरी आध्यात्मिक शान्ति-सम्बन्धी। पहले प्रकार की इच्छाओं को भौतिक, दूसरे प्रकार की इच्छाओं को नैतिक एवं तीसरे प्रकार की इच्छाओं को आध्यात्मिक कहा जाता है। मनुष्य का प्रथम पुरुषार्थ अपनी भौतिक इच्छाओं को तृप्त करने का है। जो मनुष्य इन इच्छाओं की तृप्ति समुचित ढंग से करता है, उसे उसी प्रकार दूसरों की इच्छाओं की चिन्ता भी होती है। वह फिर अपनी इच्छाओं की तृप्ति के निमित्त दूसरे लोगों की इच्छाओं का दमन नहीं करता। उसमें सामाजिक स्नेह का प्रादुर्भाव सहज रूप से होता है। यही सामाजिक स्नेह मनुष्य की नैतिकता का आधार है। मनुष्य सच्चा नैतिक तभी बन सकता है, जबकि उसमें सामाजिक स्नेह का विकास हो; समाज के भय के कारण ऊपर से लादी गई नैतिकता मनुष्य को आन्तरिक शान्ति नहीं देती। ऐसी नैतिकता झूठी होती है। कितने ही लोग दूसरों से प्रशंसा-प्राप्ति के लिये अपने जीवन में कठोर नैतिकता बरतते हैं। उनमें आवश्यकता से अधिक अस्तेय, अहिंसा, अपरिग्रह आदि गुणों को देखा जाता है। किन्तु यह आन्तरिक वासना का आवरण मात्र है। इस प्रकार की मानसिक क्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान में अति पूर्तिकरण की प्रतिक्रिया कहा जाता है। इस प्रकार की कृत्रिम नैतिकता बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहती। एक-न-एक अवसर ऐसा आता है, जब कि नैतिकता का यह ढोंग खुल जाता है एवं मनुष्य को अपने अन्तः में स्थित नग्न कंकाल के दर्शन हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग, विक्षिप्तता एवं जीवन की दुर्घटनायें मनुष्य को उसके छिपाये हुए सत्य को स्पष्टरूप से दर्शा देते हैं। मनुष्य अपनी आध्यात्मिक प्रगति तभी

करता है, जब वह अपने आन्तरिक स्वत्व को स्वीकार करके बाह्य एवं आन्तरिक जीवन में समरसता स्थापित करने की चेष्टा करता है। इससे एक ओर उसके दिखाऊ नैतिक मूल्य निम्नस्तर के हो जाते हैं, परन्तु दूसरी ओर उसमें ठोस नैतिकता का विकास भी होता है। यह मनुष्य की पुनर्शिक्षा कहलाती है। इस पुनर्शिक्षा की आवश्यकता उसी व्यक्ति को पड़ती है, जो अपने जीवन का क्रमिक विकास नहीं कर सका है।

मनुष्य के तीसरे प्रकार की इच्छाएँ आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक मूल्य नैतिक मूल्यों से इस दृष्टि में ऊँचे हैं कि जहाँ नैतिक मूल्यों की प्राप्ति हमारे अहंकार को बढ़ा देती एवं हमें अपने त्याग की सार्थकता दर्शाती है, वहाँ आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति अहंकार को उसकी चरम सीमा पर ले जाकर शून्य में विलीन कर देती हैं। अहंकार की समाप्ति के साथ-साथ सभी इच्छाओं की समाप्ति हो जाती है। आध्यात्मिक इच्छायें वे हैं, जो व्यक्ति को समष्टि से मिलाने में साधक बनती हैं। यहाँ इच्छाओं का दमन नहीं होता, प्रत्युत व्यक्तिगत एवं सामाजिक इच्छाओं का भेद ही नष्ट हो जाता है। मनुष्य फिर अपने लिये कुछ न कर समाज के हितार्थ ही सब समय काम करते रहता है। वह समाज में ऐसे काम करता है, जिनका अनुकरण करके समाज के लोगों के जीवन का क्रमिक विकास हो एवं वे निराशावादी न बन कर पुरुषार्थी बनें; उसका अपना कोई काम नहीं रहता एवं न किसी काम में उसकी रुचि ही रहती है। किन्तु वह सभी लोगों के काम को अपना ही मानकर सभी लोगों को अपने-अपने कार्यों में प्रोत्साहित करता है। भगवान कृष्ण का जीवन इसी प्रकार का था। उन्होंने कहा है कि तीनों लोक में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो मुझे प्राप्त न हो तथा जिसकी मुझे इच्छा हो। तिसपर भी मैं बराबर काम में लगा हूँ। यदि मैं काम में रुचि न दिखाऊँ, तो दूसरे लोग भी मेरा अनुकरण करके अपने-अपने कर्तव्यों से विमुख हो जायँगे। समाज के श्रेष्ठ पुरुष जैसे होते हैं, उसी का अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। अतएव श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण अनुकरणीय होना चाहिये।

समाज के लोगों में अनेक प्रकार की इच्छायें होती हैं। कोई धन कमाना चाहता है, कोई विद्या तथा कोई ऐश्वर्य। ज्ञानी पुरुष भोगेच्छु व्यक्तियों को अपने-अपने कामों में उन्हीं के साथ काम करते हुए लगाये रखता है। ऐसा करने से ही उनका सच्चा मानसिक विकास विकास होता है। समय के पूर्व उच्चकोटि का ज्ञान किसी मनुष्य को नहीं होता। इस प्रकार का ज्ञान देने की चेष्टा ही मनुष्य के लिये हानिप्रद है। इससे उसके व्यक्तित्व का विच्छेद हो जाता है और मनुष्य ऐसे ज्ञान से आत्म-भर्त्सना मात्र करना सीखता है। उसे निर्वाण की प्राप्ति न

होकर मानसिक क्लेश एवं जड़ता की प्राप्ति होती है। इसीलिये उपनिषद्काल के ऋषियों ने काम करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा रखने का उपदेश अपने शिष्यों को दिया था। यही सच्चा जीवन-दर्शन है।

—लालजीराम शुक्ल

तरणि तो किनारे लगी जा रही है !

तरणि तो किनारे लगी जा रही है
मुझे पार जाना नहीं किन्तु भाता !
यहाँ उर्मियों का मुझे प्यार मिलता
यहाँ सूर्य-शशि का सु-प्रतिबिम्ब खिलता
चपल तारकों की यहाँ दृग-मिचौनी
कमल का इशारा हृदय को लुभाता !
मुझे पार जाना नहीं आज भाता।
मुझे आँधियों के थपेड़े सुहाते
मुझे जलचरों के अजन्न नृत्य भाते
पवन कान में नित नये गीत गाता
कि मुझ से अँधेरा सदा खेल जाता।।
मुझे पार जाना नहीं आज भाता !
यहाँ संग-साथी मुझे मिल गये हैं,
यहाँ जिन्दगी के सुमन खिल गये हैं,
वहाँ कूल पर आज दिखता न कोई,
मुझे वह अकेला किनारा डराता।।
मुझे पार जाना नहीं आज भाता ।।
वहाँ भूमि पर मैं उतर क्या करूँगी,
यहाँ पंथ पतवार लेकर गढ़ूँगी,
नहीं कोई मंजिल मुझे खींचती है'
नहीं कोई बिछुड़ा मुझे याद आता !
तरणि तो किनारे लगी जा रही है
मुझे पार जाना नहीं किन्तु भाता !

—शकुन्तला सिरोठिया एम. ए.

क्रिया-द्वारा मानसिक विकास

मनुष्य के मन का विकास दो प्रकार से होता है; एक ज्ञान की वृद्धि से और दूसरा क्रिया के द्वारा। प्राचीन काल में शिक्षा का प्रधान तात्पर्य बालक की ज्ञान-वृद्धि से था। आधुनिक जगत में दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। वर्तमान काल में हम उसी शिक्षा को ठोस शिक्षा मानते हैं, जो क्रिया के द्वारा दी गई हो। क्रिया के बिना प्राप्त ज्ञान जड़ता का द्योतक होता है। इस प्रकार का ज्ञान बालक को पोथी-पंडित बनाता है। वह उसके मस्तिष्क पर भाररूप बनकर रहता है और उसमें आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न करता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों का विचार है कि वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है, जिसे बालक अपने स्वतंत्र प्रयत्नों से प्राप्त करे और जिसके लिए उसे अपनी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को अधिक से-अधिक काम में लाना पड़े।

भारत वर्ष में इस नये विचार के प्रचार की आवश्यकता है। वास्तव में यह मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतंत्रता का द्योतक है। क्रियाशीलता मनुष्य को अपनी शक्ति का ज्ञान कराती है, और उसमें आत्मविश्वास को उत्पन्न करती है। जो लोग आत्म-स्फूर्ति से कार्य करते हैं, वे ही अपने जीवन में अधिक-से-अधिक आध्यात्मिकता प्रदर्शित करते हैं। 'काम तो सभी को करना ही पड़ता है। कुछ लोग दूसरों से ढकेले जाने पर काम करते हैं और कुछ लोग आत्म-स्फूर्ति से। आत्म स्फूर्ति से काम करने वाले लोग समाज रूपी गाड़ी की इंजन के समान हैं, जो निश्चित लक्ष्य पर न केवल अपने आप ही जाते हैं वरन् अपने पीछे अनेक क्रियाहीन डब्बों को भी घसीटकर ले जाते हैं। स्वतः चलने वाले लोग जीवन में सुखी रहते हैं। पिछलगुआ अथवा ढकेले जानेवाले जीवन को भार-रूप से ढोते हैं। सच्ची शिक्षा बालक को अपनी स्फूर्ति से चलने वाली इंजन के समान बनाती है।

ऐसी शिक्षा का निर्माण यूरोप के कुछ उदार-हृदय मनस्वियों ने किया है। इनमें से रूसो एवं फ्रेबेल के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। दोनों ने ही बालक की स्वतंत्रता को दैवी वस्तु बताया है। इसकी रक्षा तथा इसके अधिक-से-अधिक विकास के लिए उन्होंने नई शिक्षा-प्रणालियों का निर्माण किया। शिक्षा का मुख्यध्येय बालक को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, सक्रियता और शक्ति की अनुभूति कराना है। जिस वातावरण में बालक को प्रारम्भ से रखा जाता है, उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वतंत्रता, स्नेह, स्वावलम्बन तथा सक्रियता के वातावरण में रहनेवालावाला बालक न तो

समाज का लद्दू घोड़ा बनेगा और न उसका खटमल। जिन लोगों में आत्म-विश्वास की कमी और झूठी पंडिताई का पाखंड रहता है, जो भीतर से निकम्मे रहते हैं, वे ही समाज के शोषक बनते हैं अथवा अपंग बनकर समाज में भाररूप से जीवित रहते है।

इस प्रसंग में जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फिक्टे तथा शिक्षा विशेषज्ञ फ्रोयवेल से जो शिक्षा मिलती है, वह अनुकरणीय। भारतवर्ष बहुत दिनों तक मानसिक जड़ता में पड़ा रहा। रटन्त ज्ञान का उसने बहुत कुछ सहारा लिया। आत्म-स्फूर्ति को खो देने के कारण ही हमें विदेशियों की गुलामी स्वीकार करनी पड़ी। अब समय आया है कि हम विश्व के ऐसे विद्वानों के विचार राष्ट्र की शिक्षा प्रणाली में समाविष्ट कर लें, जो हमें उपर्युक्त जड़ता से मुक्त करते हैं। फिक्टे महाशय के कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य में उस परम तत्व की उपस्थिति है, जो सम्पूर्ण विश्व का निर्माता है। यह तत्व अपनी शक्ति के साक्षात्कार के लिए बाह्य परिस्थितियों की उपस्थिति करता है एवं उनपर विजय प्राप्त करने की कोशिश करता है जो मनुष्य जितना ही क्रियाशील बनकर इन परिस्थितियों को अपनी काबू में लाने की चेष्टा करता है, वह अपने जीवन में दैविकता उतनी ही अधिक व्यक्त करता है। इसके प्रतिकूल जो परिस्थितियों से डरकर अपने जीवन को परिस्थितियों के अनुसार बना लेता है, वह दैविकता से उतनी ही दूर हो जाता है। सद्गुण जीवन में शुद्ध क्रिया का प्रदर्शन है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही अधिक सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करके जीवन - संग्राम में आगे बढ़ते जाता है, वह उतनाही सद्गुणी है।

फिक्टे महाशय की यह शिक्षा गीता में दी हुई भगवान कृष्ण की शिक्षा के समान है। यह शिक्षा मनुष्य को पलायनवादी न बनाकर क्रियाशील बनाती है। वाध्य होकर किसी क्रिया को करने से मनुष्य की इच्छा - शक्ति दुर्बल होती है। आत्म-स्फूर्ति से किया गया कर्म मनुष्य को जीवन के अनेक प्रकार के बन्धनों से मुक्त करता है। वह जीवात्मा को परमात्मा से मिलाता है। अर्थात् जीव को उसकी अपार शक्तियों का अनुभव कराता है। प्रत्येक जीव के द्वारा इन अपार शक्तियों की अनुभूति करनाही कर्म योग है। मनुष्य की सर्वोत्तम शिक्षा का यही लक्ष्य है।

गीता के कर्म योग की शिक्षा का सर्वोत्तम नमूना १९ वीं शताब्दी के जर्मन विद्वानों के जीवन में देखा जाता है। कर्मयोगी बनने के लिए बचपन से ही हमें बालक को सतत क्रियावान् बननेका अभ्यास कराना होगा। क्रिया के द्वारा शिक्षा अर्थात् क्रिया के द्वारा ज्ञान एवं आनन्द की वृद्धि ही हमारी शिक्षा का लक्ष्य

होगा। इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति का निर्माण फिक्टे के अनुयायी फ्रायबेल ने अपनी किन्डर गार्टेन शिक्षा-प्रणाली में किया। 'किन्डर गार्टेन' शब्द का अर्थ 'बालबाड़ी' है। वर्तमान काल में यहाँ के कुछ भले शिक्षा-शास्त्रियों ने इस बाल-शिक्षा प्रणाली को अपने देश में व्यापक बनाने की चेष्टा की है। बालक उसी शिक्षा से सबसे अधिक लाभ उठाता है, जिसमें वह अपनी क्रिया-शीलता, आत्मस्फूर्ति और स्वतंत्र चिन्तन को अधिक-से-अधिक काम में लाता है। इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली को स्वराज्य शिक्षा प्रणाली कहा जा सकता है। इस शिक्षा प्रणाली में बालक को बाध्य होकर कुछ भी नहीं करना पड़ता। वह जो कुछ करता है, अपने आनन्द की वृद्धि के लिए करता है।

यह 'स्वराज्य शिक्षा-प्रणाली' अकेले में रहकर सम्भव नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह समाज में आकर ही अपने अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होते देखता है। हमारी उच्च कोटि की इच्छाएँ व्यक्तिगत नहीं, अपितु सामाजिक हैं और हमारे उच्च कोटि के आनन्द भी वैयक्तिक नहीं, सामाजिक ही हैं। बालक में चाहे कितनी भी बड़ी प्रतिभा क्यों न हो, यदि उसे समाज से अलग रख दिया जाय, तो वह एक निम्न कोटि का बुद्धू व्यक्ति बन जायगा। उसका जीवन नीरस और निराशावादी हो जायगा। समाज ही हममें वह प्रेरणा उत्पन्न करता है, जिसके कारण हम अपने जीवन में अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते हैं। समाज ही हमें उस आनन्द की अनुभूति कराता है, जिसके कारण हम व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकरा देते हैं और कठिन-से-कठिन शारीरिक कष्ट को हँसते-हँसते झेल लेते हैं। अतएव फ्रोयबेल ने बालकों की शिक्षा उन्हें समुदाय में रखकर ही करने की चेष्टा की। बालक बाल-समाज में रह कर कहानी-किस्से कहता, गीत गाता, नाचता, अनेक प्रकार के अभिनय करता और टोलियाँ बनाकर प्रकृति-निरीक्षण के लिए जाता है। इस तरह जो ज्ञान उसे प्राप्त होता है, वह उसके जीवन में काम आता है।

क्रिया-शीलता मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का सर्वोत्तम साधन है। हम जिस काम को नहीं किये रहते उसके करने की पूरी क्षमता हममें नहीं रहती चाहे हम उस काम के विषय में कितनी ही जानकारी क्यों नहीं रखते हों। वे ही लोग अच्छे इन्जीनियर, डाक्टर और शिक्षक होते हैं, जो क्रिया के द्वारा इन व्यवसायों को सीखते हैं। क्रिया के अनुभव के संस्कार मनुष्य के क्रियात्मक स्नायुओं में विशेष प्रकार के परिवर्त्तन कर देते हैं। इसके कारण बिना अधिक चिन्तन किये ही व्यक्ति योग्य काम करता है। यदि सोच विचार करके ही जीवन में सभी काम करें, तो हमारा जीना ही असम्भव हो जाय। हम एक-एक बात

के निर्णय करने में घंटों लगा दें और जो समय हमें काम करने में खर्च करना चाहिए, उसे हम काम के विषय में चिन्तन कर देने में ही खो देंगे। इस प्रकार का चिन्तन करने से अपनी कार्य-क्षमता में मनुष्य का विश्वास नहीं रहता है। यही कारण है कि अधिक विद्वान व्यक्ति अधिक उपयोगी बातों की सृष्टि नहीं कर पाते और वे समाज के नेता नहीं होते। जब तक हमारा चिन्तन क्रियात्मक नहीं होता, तब तक वह हमारे मानसिक विकास में उपयोगी न बनकर बाधक ही बन जाता है।

क्रिया के संस्कार मनुष्य में जो आत्म-विश्वास उत्पन्न करते हैं, वे मनुष्य के चरित्र की ठोस आधार-शिला बनते हैं। जो मनुष्य जितना ही अधिक सफल क्रियाओंको कर चुकता है, वह अपने आप में उतनाही अधिक विश्वास रखता है। ऐसा व्यक्ति अनेक प्रकार के प्रलोभन, भय और और आदेशों की दबाव में नहीं आता, वह उनका सामना करता है। उसका आत्मविश्वास उसे भय, प्रलोभन अथवा किसी दूसरे निम्न आवेग के वशीभूत होकर काम करने से रोकता है। निकम्मा मनुष्य कभी भी सद्गुणी नहीं हो सकता। आलस्य और दीर्घ सूत्रीपन सभी दुर्गुणों की जड़ है। इसीलिए कहा है कि 'बैठे से बगोर भली।'

मनुष्य के आनन्द दो प्रकार के होते हैं। एक प्राप्त्यात्मक अथवा ग्रहणात्मक और दूसरा रचनात्मक। पहले प्रकार का आनन्द सुख कहलाता है और दूसरे प्रकार का आनन्द शुद्धानन्द है। सुख किसी वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। सुख की अवस्था में मनुष्य का मन दास भाव में रहता है। इसके प्रतिकूल विशुद्धानंद मनुष्य को किसी प्रकार की रचना अथवा दूसरों को प्रसन्न करने के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। जो मनुष्य सदा रचनात्मक कार्यों में लगे रहते हैं, उन्हें उच्च-से-उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति होती है। रचनात्मक कार्यों से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसका उपभोग न केवल रचनात्मक क्रिया को करने वाला करता है, वरन् उसका उपभोग दूसरे लोग भी करते है। अतएव ऐसा व्यक्ति दूसरों का शोषक न बनकर उनका पोषक बनता है। मनुष्य के मानसिक विकास का लक्ष्य भी ऐसे ही मूल्यों का निर्माण करना है, जिनसे सर्व साधारण का कल्याण हो।

—सम्पादक

असफलता और सफलता

मेरा एक विद्यार्थी, जो इस समय द्वितीय वर्ष कला की परीक्षा दे रहा है, कक्षा में अन्यमनस्क और उदास की भाँति बैठा करता था। मैं भी कई दिनों से उसकी इस भाव-भंगिमा का निरीक्षण करने में तल्लीन था। एक दिन जब मैं अवकाश के समय धूप ले रहा था, तो वह विद्यार्थी मेरे सम्मुख खड़ा हो गया और कुछ कहने के लिए उसने मुझसे आज्ञा माँगी। आज्ञा-प्रदान करते हुए मैंने उससे पूछा—'तुम उदास क्यों रहते हो?' उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि मुझे पूर्व से ही ऐसा ज्ञात होने लग गया था कि आप मेरे बारे में चिन्तित रहते हैं और मेरी व्यथाओं को जानने के लिए मुझसे कुछ पूछना चाहते हैं। इसके उपरान्त उसने यह भी कहा कि आप में जितनी उदारता है, उतनी उदारता मैंने किसी में नहीं पाई।

उसकी यह बात मेरे लिए एक समस्या हो गई, क्योंकि इसके पूर्व उस विद्यार्थी से मेरा कोई परिचय तक नहीं था। उसने मुझसे केवल यही आग्रह किया कि आप मेरे डेरे पर चलें और मैं उसके साथ गया भी। दूसरे दिन मैंने उसे बुलाया, लेकिन वह नहीं आया और उसके बदले में एक दूसरा विद्यार्थी (जिसे मैं अच्छी तरह से जानता था और जो अपनी कक्षा का प्रथम एवं सर्वप्रिय विद्यार्थी है) आया। उसने आकर मुझसे कहा कि देवी सहाय (यही नाम है उस छात्र का) तो घर चला गया। इसके पश्चात् उसने मुझसे उक्त छात्र के जीवन के बारे में कहना प्रारम्भ किया।

उसने कहा कि मेरा और देवी का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम लोग एक साथ ही रहते हैं। पढ़ते भी एक साथ ही हैं, लेकिन देवी सहाय के दिमाग को मैं आजतक नहीं समझ पाया। वह महीने में बीस रोज बीमार रहता है। दसवीं कक्षा की परीक्षा के समय वह इतना बीमार हो गया था कि उसे प्रथम श्रेणी नहीं मिली, पर उसके अन्य मित्र प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हो गए थे। इस पर उसके वृद्ध पिता ने व्यंग के रूप में उससे कहा कि तुम कुछ पढ़ते-लिखते नहीं। तुम्हारे पक्के साथी चिन्तामणि तो अपने स्कूल में प्रथम आए हैं, और तुम इधर-उधर घूमते ही रह गए। पिता के कडुवे वचनों का प्रभाव उस पर इतना पड़ा कि वह दिन-रात यही सोचने लगा कि मैं क्या करूँ? मैं क्यों बीमार पड़ा? अब आई० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी लाकर दिखाऊँगा आदि-आदि। लेकिन उसका मन हमेशा व्यग्र रहने लगा। प्रथम वर्ष में जब वह प्रविष्ट हुआ, तो उसकी वेदना बढ़ने लगी, क्योंकि अन्य विद्यार्थी तथा अध्यापकों ने भी उसकी

असफलता के कारण को पूछते हुए उसके अन्तर्द्वन्द्व को नवीन कर दिया। उसकी मूकता बढ़ती गई और बोलने में हकलाहट का आना प्रारम्भ हो गया। वह सब विद्यार्थियों से अलग रहने लगा।

वह बहुत कठिनता से अपने मन की बात अपने मित्र से बताया करता था। वह गाँव से दूर एक घने बाग में बैठकर चिन्तन किया करता था कि संसार दुःखमय है। मेरा जीवन दुःख से ओतप्रोत है। मुझे जीना नहीं चाहिए। सभी लोग मुझे अपमानित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। उसके मित्र ने उससे पूछा कि तुम्हें कौन अपमानित करता है? उसने उत्तर दिया कि यह क्या है कि विद्यार्थी एवं अध्यापक सभी कहते हैं कि तुम्हारा प्रथम श्रेणी क्यों नहीं आया। यद्यपि उनके शब्द सहानुभूति के होते थे, लेकिन वे उसे व्यंग से सने प्रतीत होते थे। वास्तव में बात यह थी कि उसका अचेतन मन में पिता के शब्द व्याप्त थे, जो उसे सदैव कष्ट दिया करते थे। उसका चेहरा पीला पड़ गया था। प्रथम वर्ष की परीक्षा भी वह न दे पाया और हमेशा रुग्न रहने लगा। लेकिन अच्छा विद्यार्थी होने के कारण उसे उत्तीर्ण कर दिया गया और इस वर्ष वह द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी है। इस साल अपने मानसिक उलझनों से छुटकारा पाने के लिए उसने वेदना से युक्त कविताएँ करना प्रारम्भ कर दिया। सुबह घर से कुछ दूर बन में चला जाया करता और कविताएँ बनाया करता। उसे खाने-पीने की सुधि न रह गई। कभी-कभी शाम तक वहीं बैठा रह जाता था। उसकी हालत इतनी खराब हो गई कि उसे टी० बी० हो गया। वर्ष का प्रारम्भ था। विद्यार्थियों के सम्पर्क में मैं अभी नहीं आ पाया था। इसलिए उनके दुःख-सुख की अनुभूति करना हमारे लिए कठिन भी था।

सौभाग्य से मुझे शनिवार के दिन दो घंटे लगातार इतिहास पढ़ाने के लिए मिल गये थे। इसलिए मैंने 'इतिहास-परिषद्' की स्थापना की, जिसमें विद्यार्थियों को बोलने का अभ्यास कराया जा सके। उक्त घण्टे इसीलिए प्रयुक्त किए गए। इसमें मैं अपने पूज्यपाद गुरु आचार्य पं० लालजीराम शुक्ल-द्वारा निर्देशित मैत्रीभावना के अभ्यास के लिए भी कुछ बतलाया करता था। विद्यार्थी बहुत प्रभावित हुए। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर उक्त विद्यार्थी मेरे पास आया और मुझे अपने घर ले चलने के लिए उसने आज्ञा माँगी। दूसरे दिन मैंने उसे पुनः बुलवाया। जब वह हमारे सामने आकर खड़ा हुआ, तो मैंने उससे पूछा कि तुम्हें चिन्ता किस बात की है। तुम एक प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी हो। तुम्हारी कविताएँ बहुत ही सुन्दर हुआ करती हैं। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी तथा उसने मेरे पैर छुए। मुझे जरा लज्जा-सी लगी, क्योंकि अभी मैं इसका

अभ्यस्त नहीं था और इसी वर्ष विद्यार्थी - जीवन से निकल कर मैंने शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया था। मैंने उसे उठाते हुए कहा कि तुम रो क्यों रहे हो? मैं तुम्हें बहुत दिनों से देख रहा हूँ और तुम्हारे लिए सदैव चिन्ता किया करता हूँ कि तुम स्वस्थ रहो और उन्नति करो। उसने कहना प्रारम्भ किया कि आज तक इतना प्यार मुझे कोई न दे सका। मैंने विचार किया कि मनुष्य सम्मान का भूखा है। यदि उसके साथ सहानुभूति एवं स्नेह दिखलाया जाय, तो उसकी बुद्धि निखर उठती है। यह अभ्यास मैंने मनोविज्ञानशाला में अपने गुरुजी के चरणों में बैठे-बैठे प्राप्त किया था। किसी के दुःख में स्नेह का संचार करना सच्चा स्नेह कहलाता है। एक व्यक्ति के विचार यदि दूसरे से मिलने लगें, तो आत्मा में एकता आ जाती है। मैंने उक्त विद्यार्थी को अनेकों सान्त्वनाएँ दीं और आज देख रहा हूँ कि उसके मुख पर से चिन्ता समाप्त हो गई। वह जब कभी मुझे देखता था, तो चरण छूता था। मैं सदैव उसे उल्लसित किया करता था। उसकी हकलाहट पर भी इसका प्रभाव पड़ा और जनवरी माह में सम्पूर्ण कालेज में वाद-विवाद प्रतियोगिता में उसने प्रथम स्थान प्राप्त किया। अब वह एक अच्छा वक्ता एवं विद्यार्थियों का शिरोमणि माना जाता है।

इस प्रकार जीवन की एक घटना मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को बोझिल बना देती है। पिता के व्यंग ने उसके जीवनको उत्थानसे रोक दिया और उसे निराशा का मार्ग दिखलाया। 'मैत्री भावना' का अभ्यास चिन्ता से मुक्ति और बुद्धि की प्रखरता को बढ़ाता है। मैं उस विद्यार्थी के घर भी गया। उसे यह स्वप्न में भी आशा न थी कि मैं उसके घर आऊँगा; क्योंकि एक तो उसका घर गाँव में पड़ता था और दूसरे अध्यापकगण अपनी शान में विद्यार्थियों से मिलना कम पसन्द करते हैं। इसलिए उसने समझा कि संसार में हमारा कोई हितैषी भी है। लेकिन यह कोई बड़ी वस्तु न थी। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःखी है। यदि उसके दुःख को कोई भी व्यक्ति जरा सा सहला देता है, तो वह उसका स्नेही बन जाता है। स्नेह का व्यापार सस्ता और महँगा भी है, लेकिन इसके सौदागरों को बिना इसके आदान-प्रदान के जीवन शून्य-सा मालूम पड़ता है। इसलिए स्नेह से व्यक्ति बड़े-से-बड़े चिन्तित, निराश व्यक्तियों में स्फूर्ति और आशा का संचार कर सकता है।

—रवीन्द्र उपाध्याय, एम० ए०

बालकों का चरित्र-निर्माण कैसे हो ?

चरित्र मनुष्य का बहुमूल्य रत्न है। उसकी प्राप्ति से मनुष्य संपन्न और उसके खो जाने से विपन्न हो जाता है। जिसका चरित्र निर्मल है, वह उसी प्रकार सबके आदर का पात्र होता है, जिस प्रकार धनवान व्यक्ति, वरन् चरित्रवान् का आदर धनवान् से भी अधिक होता है। हमारे ऋषि-मुनि चरित्र के बल से ही राजा-महाराजाओं के पूज्य होते थे। इसके विपरीत चरित्रहीन मनुष्य निर्धन से भी अधिक निरादृत और अपमानित होते हैं। चरित्रहीन व्यक्ति यदि धनवान भी होता है, तो समाज में उसका आदर नहीं होता। लोग उसके ऊपर उँगली उठाते हैं और उसके सामने चाहे न बोलें, पर पीठ पीछे होते ही उसकी निन्दा करने लगते हैं। वह अपनी चारित्रिक दुर्बलता के कारण समाज में सिर उठा कर चलने का साहस नहीं करता और यदि उसकी आत्मा कुण्ठित नहीं हो जाती, तो उसे आन्तरिक भर्त्सना भी सहनी पड़ती है। अतएव उसका जीवन सर्वदा दुःखी रहता है। सुखी रहने के लिए चरित्रवान होना आवश्यक है।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को पूर्ण बनाना है। पूर्णता का अर्थ है कि उसमें समाज में रहने की योग्यता हो, अर्थात् वह अपने को ऐसा बना ले कि उसके व्यवहार से समाज के विकास में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे, वरन् उसके सभी कार्य सामाजिक विकास में सहायक हों। यदि समाज में सभी व्यक्ति एक दूसरे के कल्याण का ध्यान रखेंगे, तो संपूर्ण समाज का कल्याण होगा और उसकी प्रगति में कोई रुकावट न होगी। यह समाजोपयोगिता अर्थात् जीवन की पूर्णता मनुष्य में तभी आती है, जब उसका चरित्र-निर्माण समुचित रूप से होता है। अतः शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है, चरित्र का निर्माण करना।

यद्यपि सिद्धान्त में इसे सभी स्वीकार करते हैं कि बालकों को शिक्षा इसलिए दी जाती है कि वे देश के उत्तम नागरिक बन सकें, परन्तु व्यवहार में हम प्रायः अपने लक्ष्य से दूर जा पड़ते हैं। उन्हें उत्तम नागरिक अर्थात् समाज का चरित्रवान सदस्य बनाने में हम असफल रहते हैं। हमारे विद्यालयों में छात्रों को अनेक विषयों के साथ-साथ नागरिक शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती है; परन्तु नागरिक शास्त्र केवल पाठ्य-ग्रन्थों के पठन-पाठन तक ही सीमित रहता है। बहुत कम अध्यापक उसे व्यावहारिक बनाने में सफल होते हैं। नागरिकता की भावना न तो स्वयं उनमें आती है और न वे उसे बालकों में ही भर पाते हैं। सिद्धान्त में सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य यदि उसे अपने आचरण में नहीं ला सकता,

तो सिद्धान्त के ज्ञान को खोखला समझना चाहिए। नागरिक शास्त्र के अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थी भी व्यवहारिक जीवन में अभद्रता और असहनशीलता का परिचय देते हैं। फिर उनका नागरिक शास्त्र का पंडित होना किस काम का? कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त और व्यवहार में एकरूपता होनी चाहिए।

यहाँ पर 'शिक्षा' और 'पाठन' का अन्तर समझ लेना चाहिए। 'शिक्षा' का अर्थ केवल पठन-पाठन नहीं होता; वरन् उसका अर्थ बहुत व्यापक होता है। उसमें 'पढ़ना' और 'गुनना' दोनों सम्मिलित हैं। जो कुछ पढ़ा जाय उसे यदि अपने दैनिक जीवन में व्यवहार में लाया जाय, तो उसे 'गुनना' कहते हैं। शिक्षा देने का तात्पर्य यह है कि बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के साथ-साथ जो कुछ पढ़ाया लिखाया जाय, उसे आचरण में लाना भी सिखाया जाय। तभी छात्रों का अर्जित ज्ञान उनका सहायक हो सकता है। यह समझना भारी भूल है कि ज्ञान सर्वदा मनुष्य का सहायक होता है। कभी-कभी ज्ञान मनुष्य का सहायक न होकर उसका शत्रु हो जाता है; जैसा कि हितोपदेश की उस कथा से सिद्ध होता है, जिसमें यह दिखाया गया है कि एक मृत सिंह को मन्त्रबल से जिला कर चार मूर्ख ब्राह्मणों ने अपने प्राण गँवाए। यह कहानी आज के युग में पूर्णतः चरितार्थ हो रही है। अनेक प्रकार के विस्फोटकों तथा संहारक अस्त्रों-द्वारा मनुष्य ने मृत सिंह को जिला दिया है, और वह हिंसक उसी के प्राणों का ग्राहक बन गया है। अतएव मनुष्य का लक्ष्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं होना चाहिए, वरन् उसे अर्जित ज्ञान का उचित उपयोग करने की क्षमता भी प्राप्त करनी चाहिए। इसी से पढ़ना के साथ-साथ 'गुनना' अर्थात् सिद्धान्त को व्यवहार में परिणत करना आवश्यक है।

कहते हैं कि परिवार बालक की प्रारम्भिक पाठशाला है। एक विचारक इससे भी आगे बढ़ गए थे। उनका मत था कि बच्चे की शिक्षा उसके जन्म से २० वर्ष पूर्व आरम्भ होनी चाहिए। उनका तात्पर्य था कि बच्चे को शिक्षित करने के लिए उसकी माता को भलीभाँति शिक्षित करना चाहिए। सुशिक्षित माता की संतान अशिक्षित नहीं रह सकती। अतः बच्चों को शिक्षित करने के लिए माताओं को शिक्षित करना आवश्यक है। हाँ, तो बच्चे की प्रारम्भिक शिक्षा माता की गोद में ही होती है। माता यदि विदुषी होगी, तो वह परिवार में अपने बच्चे के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करेगी और पाठशाला में भेजने के पूर्व उसे समाज में प्रवेश करने योग्य बना देगी; अर्थात् बालक दूसरों के साथ उचित व्यवहार करना सीख जायगा। स्थायी संस्कार डालने में विद्यालय की अपेक्षा घर का वातावरण अधिक समर्थ होता है। इसीलिए विद्यालय जाने के

पूर्व ही नहीं, वरन् उसके पश्चात् भी घर का उत्तम वातावरण बालक के समुचित विकास में सहायक होता है।

विद्यालय में प्रवेश करने पर बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसके संपर्क और सहवास का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। उसका संपर्क भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से होता है, वह नए-नए स्थानों में जाता है और नई-नई वस्तुओं से परिचय प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि वह संसार से अधिकाधिक परिचित होता जाता है। अतएव उसके जीवन पर घर की अपेक्षा बाहर का प्रभाव अधिक पड़ने लगता है। अब उसके चरित्र-निर्माण में घर उतना सहायक नहीं होता, जितना 'बाहर'। अतः बालकों के पालकों अथवा अभिभावकों तथा शिक्षकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक घर और विद्यालय के बाहर किन-किन से प्रभावित होते हैं। उनके संपर्क और सहवास के क्षेत्र का मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। इस जानकारी की उपेक्षा के कारण ही आज हमारे छात्रों में चारित्रिक दुर्बलता एवं अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है।

घर के बाहर उचित शिक्षा के अनेक साधन हैं। विद्यालय में पठन-पाठन के अतिरिक्त भी कुछ कार्य-कलाप होते हैं, जिन्हें पाठन-पूरक क्रियाएँ कह सकते हैं; जैसे वाद-विवाद प्रतियोगिता, अभिनय-कला-प्रदर्शन, कविता-पाठ, कहानी-प्रतियोगिता, पुस्तकालय तथा वाचनालय का उपयोग, जिनसे शिष्ट एवं उपदेशप्रद सामग्री प्राप्त की जा सकती है। वाचनालय के समान ही संग्रहालय भी उपयोगी होते हैं और उनका निरीक्षण करने से बालकों को बहुत लाभ होता है। उपयोगी व्याख्यान-मालाएँ भी बालकों को उचित शिक्षा प्रदान करती हैं। उपदेशप्रद चित्रों का चित्र-पट पर प्रदर्शन करना भी शिक्षा में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त विद्यालय में कृषि और बागवानी के कार्यों-द्वारा भी पर्याप्त शिक्षा दी जा सकती है। खेल का मैदान बाहरी शिक्षा का सबसे प्रधान क्षेत्र है। वहाँ पर शारीरिक विकास के साथ-साथ अनुशासन की जितनी अच्छी शिक्षा दी जा सकती है, जीवन के किसी अन्य क्षेत्र में उतनी नहीं दी जा सकती। अतएव खेल के मैदान का उचित उपयोग शिक्षा के लिए बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार बालचर-संस्था उचित शिक्षा का एक उत्तम साधन है। वह चरित्र-निर्माण में विशेष रूप से सहायक होती है, क्योंकि उसमें अधिकांश शिक्षा व्यावहारिक कार्यों-द्वारा दी जाती है। उसमें समाज-सेवा के अनेक कार्य कराए जाते हैं, इसी से प्रत्येक विद्यालय में उसकी व्यवस्था रखनी चाहिये।'

परन्तु घर के बाहर बालकों को उचित शिक्षा देने के जितने साधन हैं, उनकी अपेक्षा अवांछनीय शिक्षा के अधिक साधन उपलब्ध हैं। उनमें सिनेमा

सबसे प्रमुख है। जब तक जीवन के लिए उपयोगी और चरित्र-निर्माण में सहायक चित्र नहीं निर्मित होंगे, तब तक चित्र-पट से समाज को लाभ के स्थान पर हानि ही होने की संभावना है। समाचारपत्रों में आए दिन सिनेमा के दुष्परिणामों के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। फिर भी समाज के कर्णधारों ने उसके सुधार की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया है।

राजनैतिक आन्दोलनों का उचित और अनुचित दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। आजकल छात्रों में आंदोलनप्रियता अनुचित ढंग से बढ़ रही है। इसी से शिक्षा में अनुशासन की कमी दिखाई पड़ती है। यह सत्य है कि परतन्त्र भारत में छात्रों को राजनैतिक आंदोलनों में भाग लेने को कहा गया था। परन्तु स्वतंत्र भारत में परिस्थिति बदल गई है। फिर भी कुछ राजनैतिक दल आजकल छात्रों को आंदोलित करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह छात्रों के लिए बहुत हानिकर सिद्ध होता है। इससे केवल उनकी शिक्षा में ही बाधा नहीं पड़ती वरन् उनमें अनुशासन-हीनता की वृद्धि भी होती है और वे समाज में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। अतः छात्रों को अनुशासित और विनयी बनाने के लिए उनकी कार्य-शक्ति को स्वस्थ दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है।

सामाजिक कुरीतियों का भी छात्रों के जीवन पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। इसी से बालकों को समाज से दूर किसी स्वस्थ वातावरण में रखने की आवश्यकता पड़ती है। जिन विद्यालयों में सुप्रबन्धयुक्त छात्रावासों की व्यवस्था है, वहाँ के छात्र अधिक शिष्ट एवं संस्कृत होते हैं। इसीलिए उन्हें छात्रावास में रखना प्राचीन गुरुकुलों के समान लाभदायक होता है।

आजकल अश्लील पुस्तकें तथा समाचारपत्र एवं मासिक-पत्रिकाएँ भी अवांछनीम शिक्षा में सहायक हो रही हैं। बहुत से माता-पिता एवं अभिभावक अपने बच्चों की पाठ्य-सामग्री का निरीक्षण नहीं करते। सरकार की ओर से अश्लील एवं अवांछनीय साहित्य पर कानूनी रोक तो लगी है, परन्तु व्यवहार में उसका प्रयोग बहुत कम होता है; जिसके फलस्वरूप आजकल इस प्रकार का साहित्य बढ़ता जा रहा है और उसका प्रचार छात्रों में अधिक मात्रा में हो रहा है।

उपर्युक्त 'बाहरी' प्रभावों पर जब तक पर्याप्त नियंत्रण नहीं होता, तब तक छात्रों की अनुचित शिक्षा का द्वार बन्द नहीं होता और उचित शिक्षा के सभी साधन प्रभावहीन सिद्ध होंगे। अतएव हमारी शिक्षा में परिवर्तन एवं सुधार करनेवालों को केवल पाठ्य-क्रम के सुधार की ओर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, वरन् पाठन-सहायक क्रियाओं के विकास की ओर भी दृष्टि रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त घर और विद्यालय के बाहर अनुचित शिक्षा के साधनों पर नियंत्रण

रखने और उचित शिक्षा के साधनों की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब शिक्षा का वास्तविक अर्थ समझ कर पठित सामग्री को व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया जायगा और बालकों को समाज के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास होगा, तभी हमारे विद्यालयों से निकले हुए छात्र सच्चे अर्थ में शिक्षित होंगे और वे अपने आचरण से देश का मस्तक ऊँचा करेंगे।

प्रो०—रमापति शुक्ल

गीत

मन-मंदिर में प्रिय का पावन प्यार जगाना भूल गए।
जल-थल-अम्बर के कण-कण में
अरे बजा दी जय-भेरी,
बाह्य प्रकृति को बाँध बनाया
अपने चरणों की चेरी;
पर अपने अंतः पर विजय-ध्वज फहराना भूल गए।
पत्थर के मंदिर में बाला
दीपक कोने-कोने में,
उलझ गए बाहर ही जगमग
दीपावली सँजोने में;
पर उर के काले प्रकोष्ठ में दीप जलाना भूल गए।
ढूढ़ें गिरि - वन गहन मरुस्थल
खोजा सरिता - सर - सागर,
खाक छानते फिरे जगत में
छान दिया जल-थल-अम्बर;
किंतु हृदय की रत्न-राशि की खोज लगाना भूल गए।
वेद - शास्त्र - विज्ञान जानकर
बने महापंडित ज्ञानी,
जग ने यशोगान गाया फिर
फूले भूले अभिमानी;
पर पीड़ित की करुण आह सुन अश्रु बहाना भूल गए।
मन-मंदिर में प्रिय का पावन प्यार जगाना भूल गए।

—कमलाकर मिश्र

मानसिक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता का अर्थ है स्वयं के अधीन होना अर्थात् पराधीन न रहना। आत्म-निर्भरता ही स्वतंत्रता है, परावलंबन को छोड़कर स्वावलंबन की प्राप्ति ही स्वतंत्रता का स्वरूप है। परतंत्रता में मनुष्य दूसरे के द्वारा संचालित होता है और स्वतंत्रता में अपने आपके द्वारा। परतंत्र अवस्था में अन्य व्यक्ति के निश्चय की बाध्यता अथवा बंधन होता है और स्वतंत्रावस्था में स्वयं का निश्चय ही संयमन करता है। स्वतंत्रता आत्मसंयम का रूप है। दूसरों के बंधन अथवा शासन में रहना दुःखद होता है, परंतु अपने आपके द्वारा संयम सुख की अनुभूति कराता है। महात्मा तुलसीदास ने कहा है 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' परतंत्र मनुष्य को भारी मानसिक दुःख की अनुभूति होती है, क्योंकि उसकी इच्छापूर्ति अपने आप पर नहीं दूसरों पर निर्भर है। साधारणतया कार्य करने की स्थिति को ही स्वतंत्रता समझा जाता है। पर इस प्रकार की अवस्था को स्वतंत्रता का नाम देना उपयुक्त नहीं, वह तंत्र-विहीन उच्छृङ्खलता है। इच्छा पर तंत्र अथवा संयम आवश्यक है, पर वह अपने अर्थात् स्वयं का होना चाहिये, अन्य व्यक्ति अथवा परिस्थिति का नहीं।

स्वतंत्रता सामान्यतया दो प्रकार की होती है; भौतिक और मानसिक। इनमें वास्तविक स्वतंत्रता मानसिक स्वतंत्रता ही है। यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य भी है। मानसिक स्वतंत्रता विचार-स्वातंत्र्य का ही नाम है। स्वतंत्र विचार कर सकने की शक्ति ही मानवता के विकास का सच्चा रूप है। राग-द्वेष से परे होकर निष्पक्ष विचार कर सकना मानसिक स्वतंत्रता है। भौतिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वावलम्बन है; अर्थात् हम समाज पर भार बनकर न रहें, वरन् अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता स्वयं प्राप्त कर लें।

मानसिक-स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता और जीवन का चरम लक्ष्य है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि आर्थिक अथवा भौतिक स्वतंत्रता अवास्तविक और व्यर्थ है। मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये आर्थिक स्वावलंबन अत्यावश्यक है। जो आर्थिक-रूप से दूसरों पर आश्रित है, उसकी बुद्धि दूसरे के अधीन हो जाती है और वह अपना मानसिक स्वावलंबन खो देता है। पाश्चात्य महान दार्शनिक संत स्पिनोजा स्वयं ही बड़ी कठिनाई से अपनी जीविका कमाते थे। उनके जीवन के अन्तिम चरण में उनकी प्रसिद्धि फैलने पर फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने उन्हें एक बहुत बड़ी वार्षिक पेन्शन देनी चाही, पर महात्मा

स्पिनोजा ने उसे अस्वीकार कर दिया। हमारे भारतवर्ष में भी धन के प्रति ऋषि-मुनियों और संतों की उदासीनता प्रसिद्ध ही है। वैशेषिक दर्शन का निर्माण करनेवाले महर्षि कणाद शलौंच वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते थे। एक राजा ने जीविकोपार्जन के लिये उन्हें इतना कष्ट लेते देख दया-वश बहुत-सा धन-दान करना चाहा, पर कणाद ऋषि ने उस धन को अस्वीकार कर दिया। इन दोनों महात्माओं के धन-दान लेने में अस्वीकृति का रहस्य अपने मानसिक स्वावलंबन की रक्षा करना ही था। भीष्म सच्चे धार्मिक और महाव्रती थे और वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे; पर वे भी भरी सभा में द्रौपदी के चीर-हरण, जिसे वे घोर अन्यायं समझते थे, का विरोध न कर सके, क्योंकि वे दुर्योधन का अन्न खाते थे। यह बात स्वयं उन्होंने ही पांडवों से कही थी। जो मनुष्य दूसरों के अनुचित (जिन पर उनका नैतिक अधिकार नहीं है) अनुग्रह और उपकार ग्रहण करने लगते हैं, उनकी मानसिक स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।

मानसिक स्वावलंबन बड़े ही त्याग और तपस्या का फल है, आर्थिक स्वावलंबन उतना कठिन नहीं। आर्थिक स्वावलंबन अल्प समय में ही संभव है, पर मानसिक स्वावलंबन संपूर्ण जीवन की तपस्या का फल होता है। हमारा देश यद्यपि भौतिक रूप से अंग्रेजों की दासता से मुक्त हो गया है, पर मानसिक रूप से हम अभी भी उनके दास बने ही हुए हैं। जिन बातों में उनकी श्रेष्ठता हमें स्वीकार करना चाहिये, वह तो उचित ही है, क्योंकि दूसरों की विचारोचित बातों को भी मान्यता न देना तो मूर्खता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति हमारे यहाँ के अधिकांश संस्कृत पंडितों की रही है। वे अंग्रेजों की श्रेष्ठता किसी विषय में मानने को तैयार नहीं हैं और यदि कुछ स्वीकार करना भी पड़ता है, तो वेदों की दुहाई देने लगते हैं, कि पाश्चात्य लोगों ने सब कुछ वेदों से ही चुराया है। पर जब दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता के पिट्ठू लोग सभी पाश्चात्य बातों को मान्यता देने लगते हैं, तो यह दासता की वृत्ति का लक्षण है। जैसे हिन्दी में भी यदि कोई लंदन से कोई डिग्री लेकर आ जाय, तो वह यहाँ सम्मान्य हो जाता है। हमारा देश बहुत समय तक किसी-न-किसी प्रकार की दासता में पड़ा रहा है। इसीलिये यहाँ चरित्र का इतना ह्रास देखा जा रहा है। एक ओर तो अहिंसा, शांति और संपूर्ण जगत का कल्याण करने के ढिंढोरे पीटे जा रहे हैं और दूसरी ओर घूसखोरी आदि की सीमा नहीं है।

मानसिक स्वावलंबन ही चरित्र-निर्माण का आधार है। विचार-स्वातंत्र्य की स्थिति में ही चरित्र का विकास संभव है। मानसिक स्वावलंबन के लिये वासनाओं का संयम अत्यावश्यक है। जिसका मन अपने वश में नहीं, वह मानसिक-

स्वातंत्र्य का अनुभव नहीं कर सकता। जब हम दूसरे के द्वारा बाध्य होकर अथवा अपनी वासनाओं के आवेश में आकर कार्य करते हैं, तब हममें चरित्र का विकास नहीं होता। किसी भी प्रकार की बाध्यता की अवस्था में किये हुए भले समझे जाने वाले कार्य भी हमारे चरित्र-निर्माण में सहायक नहीं होते; क्योंकि उनसे न तो हममें सदसद्-विवेक ही उत्पन्न होता है और न इच्छा-शक्ति की ही वृद्धि होती है। विवेक-बुद्धि और इच्छा-शक्ति ही चरित्र के आधारभूत अंग हैं। जिसको सत् और असत्, भले-बुरे का निर्णय करने की सामर्थ्य और स्वतंत्रता नहीं है; उसमें चरित्र का विकास कैसे संभव होगा। आत्म-निश्चय ही चरित्र-विकास की भित्ति है। दासवृत्ति के लोगों में, जो दूसरों की सेवा जीविकोपार्जन के लिये ही करते हैं और जिनके संपूर्ण कार्य प्रायः उनके प्रभुओं की प्रेरणा से ही होते हैं, चरित्र का विकास नहीं होता, क्योंकि उनमें उनका कोई अपना निश्चय ही नहीं होता। इसी प्रकार गाय-बैल आदि पशु मनुष्य के लिये बड़े ही उपकारी सिद्ध होते हैं, पर मनुष्य उनसे जबरदस्ती ही कार्य कराता है, उनमें दूसरों की सेवा करने की प्रेरणा और निश्चय नहीं होते। जब हम स्वयं स्वतंत्र रूप से विचार करके कोई निश्चय और तदनुकूल कार्य करते हैं, तब ऐसे कार्य से हमें चरित्र और आत्म-विश्वास की प्राप्ति होती है।

कोई-कोई व्यक्ति दूसरों के द्वारा भूलें होने के भय से विचार-स्वातंत्र्य का विरोध करते हैं। अतएव वे दूसरों पर अपने विचार, जिन्हें वे उचित मान बैठते हैं, बाध्यता के रूप में लाद देते हैं। ऐसे व्यक्ति उनसे संबंधित व्यक्तियों के व्यक्तित्व और चरित्र दोनों के विकास में बाधक होते हैं। किन्हीं-किन्हीं देशों में किसी विशेष विचार-धारा के अनुसार ही विचार करने को बाध्य किया जाता है और दूसरे-प्रकार की विचार-धाराओं पर विचार करने की स्वतंत्रता ही नहीं दी जाती। पर यह सब भ्रामक है। किसी विशेष विचार-धारा को जबरदस्ती ठूंसने के दो परिणाम संभव हैं, पहिला तो यह कि ऐसे लोगों की बुद्धि ही कुंठित हो जायगी, वे कूप-मंडूप हो जाएँगे, और दूसरा यह कि ऐसे लोग अन्धविश्वासी और कट्टर पक्षपाती हो जायँगे। इस प्रकार के लोगों से कुछ विशेष उद्देश्य सफल हो जाय, पर वे मानवता के सच्चे मूल्यों से वंचित रहते हैं। यद्यपि ऐसे मनुष्य अपने निश्चय पर मर-मिटनेवाले हो सकते हैं, जैसे बहुत से धार्मिक-संप्रदायों के कट्टर पक्षपाती, पर उनमें न तो सच्ची विवेक-बुद्धि ही रहती है और न इच्छा-शक्ति ही। इस प्रकार के मनुष्यों के निश्चय की दृढ़ता विचार का नहीं बल्कि अन्धविश्वास का परिणाम है। ऐसे लोग हठी हैं, इच्छा-शक्ति से युक्त नहीं। विवेक-पूर्वक अपने निश्चय पर दृढ़ रहना इच्छा-शक्ति

का रूप है और अन्ध विश्वास के कारण किसी टेक पर डटे रहना हठ है। विवेकशील और सच्ची इच्छा-शक्ति से युक्त मनुष्य अपने व्यर्थ निश्चय को छोड़ने को सदैव तत्पर रहता है, पर हठी मनुष्य के लिये अपने निश्चय को बदलना प्रायः असंभव-सा ही है। हठी और दुराग्रही मनुष्य अपना और दूसरों का अकल्याण ही अधिक करते हैं। अतएव सच्चे चरित्र-लाभ के लिये विचार-स्वातंत्र्य आवश्यक है और विचार-स्वातंत्र्य के लिये सभी प्रकार की विचार-धाराओं पर विचार करने का उपयुक्त अवसर देना अत्यावश्यक है। विचार करने में भूल करने का अवसर देना आत्म-निर्भर बनाने का सोपान है। जो व्यक्ति सदा ही दूसरों के सहारे सोचा करता है, उसे स्वयं भले-बुरे का निर्णय किस प्रकार होगा।

किसी व्यक्ति का सबसे अधिक कल्याण करना उसे स्वावलंबी बनाना है, और परावलंबी बनाना उसका सबसे अधिक अकल्याण करना है। स्वालंबन से मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ता है और परावलंबन से बुद्धि-नाश होता है। परावलंबी मनुष्य में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का उदय नहीं हो सकता। उसकी अन्तरात्मा दूसरों के उपकार सहते-सहते कुंठित हो जाती है और दूसरों के उपकार सहने का उसे अभ्यास हो जाता है। ऐसा व्यक्ति बड़ा स्वार्थी होता है और उसमें किसी से सच्चा प्रेम करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। वह किसी व्यक्ति से तभी तक संबंध रखता है, जब तक वह उसकी स्वार्थ-पूर्ति में सहायक होता है। ऐसा व्यक्ति लाभ पहुँचानेवाले व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ नहीं होता, वरन् उसे मूर्ख समझ कर ठगता रहता है।

पूर्ण रूपेण मानसिक-स्वातंत्र्य-लाभ बड़ा ही दुःसाध्य और दुर्लभ है। मनुष्य की चेतना को अनेक प्रकार की प्रबल शृंखलायें बांधे रहती हैं। साधारणतया लोग समाज की परंपराओं, जैसे जाति-पांति आदि अनेक प्रकार के लौकिक व्यवहारों से बचे रहते हैं। धार्मिक-संप्रदाय, पुस्तकें, दार्शनिक वाद, पुरानी और नई सभ्यता में अनुचित रूप से आसक्त होना आदि सब दासतायें ही हैं। प्रायः सभी मनुष्य इनमें बंधे रहते हैं। यदि कोई मनुष्य एक से छूटता है, तो दूसरी गुलामी में अपनी गर्दन फँसा लेता है। हमारे यहाँ जाति-पांति के नाम पर समाज में कितना अनाचार और अत्याचार फैला हुआ है, पर फिर भी हम शीघ्र ही इस शृंखला को तोड़ने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। धार्मिक सम्प्रदायों के अन्ध-विश्वास ने कितना अनर्थ फैलाया और खून-खच्चर कराया यह बात सबको विदित ही है। सबसे बड़ी दासता वासनाओं की दासता है। इसीलिए वासनाओं से मुक्त होने को ही मोक्ष माना गया है।

—प्रणवीर सिंह चौधरी

हमारे बालकों की शिक्षा कैसी हो

वर्तमान भारतवर्ष में शिक्षा के स्वरूप में जितने मत मतान्तर प्रचलित हैं, सम्भवतः उतने और किसी समय नहीं थे। शिक्षा के प्रश्न को तब तक हल नहीं किया जा सकता, जब तक मनुष्य सम्पूर्ण जीवन दर्शन का निश्चय नहीं कर लेता। वर्तमान काल में जीवन दर्शन के विषय में ही इतने मतभेद हैं कि यह निश्चित ही नहीं कहा जा सकता कि किस पदार्थ की प्राप्ति के लिए विशेष उद्योग करना चाहिए। पूर्वात्य और पाश्चात्य विचारों की विभिन्नता तो दूर रही, पाश्चात्य दर्शनों में भी इतना विरोध है कि किसी एक मत का निर्णय करना असम्भव है परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं, जिनका विरोध कोई विचारवान व्यक्ति नहीं कर सकता है। यदि इस सर्वमान्य प्राकृतिक तथ्यों के ऊपर शिक्षा का विकास हो, तो मानव जाति का अधिक से अधिक कल्याण होगा।

शिक्षा का सर्वोत्तम उद्देश्य यही कहा जासकता है कि शिक्षा वह साधन है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो, सर्वांगीण विकास एक बड़ा ही सरल शब्द दिखाई पड़ता है, परन्तु जब हम इस विकास की एक प्रतिमा खड़ी करते हैं, तब हमें बड़ी ही कठिनाई हो जाती है। विकास के बारे में पहिला प्रश्न है कि हम किस क्रिया को विकास कहेंगें और किसको अविकास। हमारे विचार से विकास उन सब क्रियाओं का नाम है, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी दैहिक सीमा को लाँघ कर विश्वात्मा से अपने तादात्म्य की अनुभूति करता है। जो व्यक्ति अपने विषय में जितना ही कम और दूसरों के विषय में जितना ही अधिक सोचता है वह उतना ही विकसित कहा जा सकता है। पशुओं में दूसरों के विषय में सोचने की क्षमता बहुत कम रहती है और मनुष्यों में अधिक। यही कारण है कि पशुओं पर मानव जाति का राज्य है। स्वयं हमें अपनी शारीरिक सीमा से बाहर निकालकर दूसरों में अपने आप को खो देने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। मनुष्य अपने सुख में ही सदा अपने को खोए नही रख सकता। अपने सुख के लिए ही उसे परिवार की सृष्टि करनी पड़ती है और समाज के हित में अपना हित देखना पड़ता है, मनुष्य पहले स्वार्थवश ही परिवार और समाज में आता है, परन्तु पीछे उससे समाज हित का चिन्तन किए बिना रहा नहीं जाता। यह उसका प्राकृतिक विकास है।

सर्वांगीण का अर्थ बौद्धिक, हार्दिक और क्रियात्मक विकास से है। इसमें हृदय का विकास होना सभी विकासों का केन्द्र है। मनुष्य की क्रियात्मक शक्ति और उसका बौद्धिक विकास हार्दिक विकास के सहगामी हैं, वर्तमानकाल की शिक्षा

प्रणाली में मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है। नई शिक्षा प्रणालियों में क्रियात्मक शक्ति के विकास पर ही ध्यान दिया जाता है। कुछ शिक्षा प्रणालियों में बौद्धिक और क्रियात्मक विकास का विभाजन न कर दोनों का साथ ही साथ विकास किया जाता है, कभी-कभी बौद्धिक विकास को मनुष्य की कार्यक्षमता पर आधारित किया जाता है। ऐसी शिक्षा प्रणालियाँ बहुत ही कम हैं, जिनमें मनुष्य के भावात्मक अथवा हार्दिक विकास पर ध्यान दिया गया है।

जहाँ तक बुद्धि और कार्य शक्ति की बात है, वहाँ तक संसार में वे ही लोग अग्रणी माने जाएँगे, जो बुद्धि में प्रवीण हैं। ऐसे ही लोग संसार पर राज्य करते हैं। जो जीवन अथवा शिक्षा में हाथ के काम को विशेष महत्व देते हैं और प्रत्येक व्यक्ति से शारीरिक श्रम की आशा करते हैं, वे स्वयं कोई उत्पादक शारीरिक श्रम अपनी आजीविका चलाने के लिए नहीं करते। उत्पादक-शारीरिक श्रम का व्याख्यानदाता स्वयं इस विषय पर व्याख्यान देकर अपना कर्त्तव्य भार उतार देते हैं। यदि वे कोई शारीरिक श्रम करते भी हैं, तो उसी प्रकार का होता है, जैसे पुजारी लोग देवी देवता का पूजा पाठ कर लेते या माला जप लेते हैं, जो राज्य अपनी शिक्षा प्रणाली में शारीरिक श्रम को ही सबसे अधिक महत्व देता है, उसके संचालक स्वयं भी कोई उत्पादक श्रम नहीं करते। यदि वे ऐसा करने लग जाएँ, तो वे राज्य के कार्य भार को सम्हाल न सकें।

यदि मानव जीवन में श्रम की ही प्रधानता रहे, तो मनुष्य पशु स्थिति से ऊँचा नहीं उठेगा। हम चाहे शारीरिक श्रम का कितना ही गुणगान क्यों न करें, श्रमजीवी लोगों के जीवन का संचालन बुद्धि जीवी ही करते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति श्रम जीवियों को अपने वश में रखने के अनेक उपाय रच लेते हैं, श्रम जीवियों का नेतृत्व करना, उन पर होने वाले अत्याचारों को प्रकाशित करना उनमें असंतोष उत्पन्न करना आदि कार्य बुद्धिमान लोगों के द्वारा ही होते हैं। स्वयं श्रम जीवी अपने आप का नेतृत्व नहीं कर सकते और जो उनका नेतृत्व करते हैं, वे श्रमजीवी नहीं होते। अतएव बौद्धिक विकास के विना श्रमजीवियों का कोई कल्याण नहीं किया जा सकता, यह भी स्पष्ट ही है कि जो व्यक्ति दूसरों का नेतृत्व करेगा उसका जीवन स्तर अपने अनुयायियों से ऊँचा रहेगा। यह अपनी आवश्यकताओं को जितना ही कम करेगा, अनुयायियों में उसका सम्मान उतना ही अधिक बढ़ेगा।

वर्तमान कालमें बौद्धिक शिक्षा को जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जा रहा है, वह हमारे देश के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है। भारतवर्ष को स्वतंत्रता बौद्धिक प्रखरता के कारण ही प्राप्त हुई। इसी के कारण भारतवर्ष के नेतागण अपने

सामाजिक दोष को पहिचान सके और मुक्त होने की सलाह उन्होंने जनता को दी। इसी के कारण हम इस वैज्ञानिक और राजनैतिक कुशलता के युग में अपना राज्य भार सम्हाले हुए हैं। यदि आज हमारे पास कुशल इंजीनियर और वैज्ञानिक कार्य कर्ता न होते और हमारे राजनीतिज्ञों में स्वतंत्र चिन्तन करने की शक्ति न होती, तो हम अपना राज्य कितनों दिनों तक चला सकते। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश के नवयुवकों का चरमतम बौद्धिक विकास करना हमारी शिक्षा प्रणाली का एक प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। फिर हमें इस प्रकार के विकास के लिए जिस समाज विकास की व्यवस्था है, उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि यह विकास शासन विहीन, वर्ग विहीन समाज में सम्भव है तो वैसे समाज का निर्माण करना होगा और यदि इसके प्रतिकूल परिस्थितियों में यह संभव है तो हमें वैसी ही परिस्थितियों को उपस्थित करना होगा।

बौद्धिक विकास को जब मनुष्य स्थाश्रित लक्ष्य बना लेता है, तब उसका हित न होकर अहित ही होता है। बुद्धि के विकास के साथ-साथ भावों का विकास होना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य में उच्चतम कोटि का बौद्धिक विकास तभी हो सकता है, जब उसका हृदय बुद्धि का सहगामी हो। जिन लोगों के बौद्धिक विकास का लक्ष्य केवल दैहिक सुख की प्राप्ति रहता है, उनका उच्चतम बौद्धिकविकास भी नहीं होता। फिर मनुष्यकी स्वार्थपरायण बुद्धि पारस्परिक विरोधी भावनाओं की प्रतिद्वन्दिता में पड़कर कुण्ठित हो जाती है। समाज में हम ऐसे बहुत से लोगों को देखते हैं, जो बुद्धि से प्रौढ़ होते हुए भी भावों से बच्चे ही हैं अर्थात् जिनका स्नेह अपने संकीर्ण व्यक्तित्व तक ही सीमित है। ऐसे लोग मानसिक रोगी हैं। जो व्यक्ति अपने सुख के विषय में जितनी अधिक चिन्ता करता है, वह अपने आप को उतना हो अधिक रोगी और दुःखी बनाता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि अपने आपको अधिक से अधिक सुखी बनाने का सर्वोत्तम उपाय अपने आपके विषय में कमसे कम और दूसरों के विषय में अधिक से अधिक सोचना है। दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टा में ही मनुष्य व्याज के रूप में अपने आप भी अनायास हो सुखी हो जाता है। सच्ची शिक्षा वह है, जिससे कि मनुष्य सहज में ही दूसरों की भलाई करने के कार्य में अपने आप को लगा सके।

हमारे पास ऐसे अनेक प्रखर बुद्धि के नवयुवक आते हैं, जो दूसरे के हित के कार्य में किसी प्रकार के रस का अनुभव नहीं करते। ऐसे लोग बड़े अभागे हैं। जिन बालकों को बचपन से ही स्वार्थी बनने की शिक्षा दी जाती है; जिन्हें सब समय बौद्धिक कार्य में ही लगाया जाता है, जिन्हें केवल अपने आप समाज में

अधिकार का स्थान प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी जाती है, वे भावी जीवन में अपने एवं समाज के लिए भार बन जाते हैं। ऐसे ही लोग एक ओर मानसिक रोगी होते हैं और दूसरी ओर बड़े-बड़े युद्धों के निर्माता। अपराध और मानसिक रोग दोनों ही स्वार्थ परायण बुद्धि की वृद्धि के परिणाम हैं। यदि हमें इन दोनों से मानव जाति को बचाना है, तो हमारी शिक्षा में उन बातों की प्रधानता का होना आवश्यक है जिनसे मनुष्य का भावात्मक विकास होता है।

भावात्मक विकास के लिए कला, साहित्य, संगीत, लोक सेवा धार्मिक शिक्षाएँ दी जाती हैं। वर्तमान काल में इन सभी प्रकार की शिक्षाओं का तिरस्कार हो रहा है। मनुष्य की स्वार्थ परायण बुद्धि ने इन्हें भी जहरीला बना दिया है। ये सभी मनुष्य के अभिमान वृद्धि के साधन बन गए हैं अर्थात् ये मनुष्य में हृदय का विकास न लाकर उन्हें संकीर्ण कर रहे हैं। यदि इस क्षेत्र में संसार के उदार चिन्तक कोई विशेष सुधार करें, तो सम्भव है कि मानव जाति का स्थायी कल्याण हो परन्तु इनका तिरस्कार करना तो मानव जाति के लिए अहितकर ही होगा।

यह संतोष की बात है कि समाज के कुछ दूरदर्शी, मानवतावादी विद्याओं प्रत्येक वैज्ञानिक और कारीगरी के विद्यालयों में अनिवार्य रूप से सिखाना आवश्यक समझ रहे हैं। साहित्य, कला, संगीत आदि के शिक्षा की आवश्यकता पर आधुनिक काल के प्रमुख दार्शनिक सर राधाकृष्ण ने कई भाषण दिए हैं। विश्वविद्यालय सम्बन्धी शिक्षा की रिपोर्ट में भी उन्होंने इसकी आवश्यकता दर्शाई है।

शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे देश के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानों में यह क्षमता आए कि वे व्यक्तिगत जीवन का पूर्णतया परित्याग कर समाज हित में ही अपनी पूर्णता देखने लगे। इस प्रकार का व्यक्ति ही राज्य संचालकों और मंत्रियों को सच्ची सलाह दे सकता है। प्लेटो ने फिलासफर किंग की जो कल्पना की थी, वह राज्य संचालक के लिए अव्यवहार्य भले ही हो; परन्तु राज्य गुरु के लिए अव्यवहार्य नहीं है। उच्चतम कोटि की शिक्षा का उद्देश्य ऐसे ही राज गुरुओं की सृष्टि करना है और यह आदर्श सर्वथा व्यवहार्य आदर्श है। ऐसा व्यक्ति एक ओर प्रखर बुद्धि का होगा और दूसरी ओर हृदय की विशालता का। वह सबको अपने में और अपने को सब में देखेगा।

बिगड़े बालक का सुधार कैसे किया जाय ?

आज से कुछ दिन पूर्व हमारे एक मित्र बड़ी परेशानी की अवस्था में हमारे पास आए। उनकी परेशानी का कारण उनके सबसे बड़े लड़के का व्यवहार था। यह लड़का स्थानीय स्कूलकी आठवीं कक्षा में पढ़ता था। वह इस समय अपनी पढ़ाई से बिलकुल उदासीन हो गया था और बुरे लड़कों की संगत करने लग गया था। उनके साथ वह घूमता फिरता और सिनेमा जाता था। सिगरेट भी पीता था। इसके लिए वह पैसा पिता माता से नहीं पाता था। अतएव किसी न किसी प्रकार पैसे भी चोरी कर लेता था। चोरी के लिए उसके पिता ने उसे बहुत कुछ मारा-पीटा पर सुधार नहीं हुआ। उसका आचरण और भी जटिल होता ही गया। पिता लड़के को मेरे पास लाए कि मैं उसे सुधार दूँ। उसके कारण उसका ग्यारह वर्षीया छोटा भाई भी बिगड़ रहा था।

आज से चार वर्ष पूर्व भी विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा के एक छात्र अपने तेरहवर्षीय भाई को पैर में बेड़ी डाले हुए लाए। उसके वृद्ध पिता भी उनके साथ थे। लड़के की अनेक प्रकार की बुरी आदतों की चर्चा की गई। उसमें बुरे लड़कों की संगति करने तथा सिनेमा देखने की आदत थी। पिता बड़े ही आदर्शवादी व्यक्ति हैं, अतएव इन बातों से उन्हें बड़ी परेशानी हुई। उन्होंने लड़के को बहुत कुछ समझाया पर लाभ न हुआ। फिर उसे खूब मारा पीटा। इससे उसने घर से भागने की आदत डाल ली। वह विना टिकट रेल पर चढ़ जाता और किसी दूर के शहर में किसी दूकानदार के यहाँ नौकरी करके अपनी आजीविका कमाता था। वह कभी-कभी अपने छोटे भाई को भी अपने साथ भगा ले जाता था। एक बार दोनों भाई विना टिकट बंबई कलकत्ता मेल से चल दिए। बीच में इटारसी के पास बड़ा भाई कुछ खाना खरीदने उतरा और रेल छूट गई। छोटा भाई रेल में रह गया। अगले स्टेशन पर वह उतर गया। इधर बड़े भाई ने दूसरी गाड़ी आगे जाने को पकड़ी और अनायास अचानक छोटे भाईको स्टेशन पर पा लिया। इस प्रकार दोनों भाई मिल गए। परन्तु दोनों के छूट जाने की भी संभावना थी।

पिता को इन सब बातों को जानकर बड़ा ही दुःख होता था। वे बड़े लड़के को जितना ही पीटते, उसकी घर से भागने की इच्छा उतनी ही बलवती होती जाती थी। वह घर से कई बार भाग चुका था। किसी ने सलाह दी कि कुछ दिनों तक उस लड़के को बेड़ी डालकर रखा जाय तो उसकी इस प्रकार की आदत

चली जायगी। हमें बताया गया कि उसके मित्र की घर से भागने की आदत इसी प्रकार छूट गई है।

इस प्रकार के बालकों के मनोवैज्ञानिक उपचार के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणों को जानें जो बालक को विशेष प्रकार का दुराचारी बनाते हैं। किसी दुराचारी बालक को किसी शैतान शक्ति के वशीभूत मानकर उसे मार-पीट कर ठीक करने की चेष्टा करना सर्वथा अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक की मानसिक जटिलता और भी बढ़ जाती है। वह अपराधी के बदले कभी-कभी मानसिक रोगी बन जाता है। बलात् भला बताया गया बालक निकम्मा युवक बनता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को सिर की स्थायी पीड़ा, आँख का रोग, बहरापन, क्षय, हृदय का रोग अथवा पेट का रोग हो जाता है। इस प्रकार के कई रोगियों की चिकित्सा करने का हमें अवसर पड़ा है। कठोर वातावरण में रखे गए बालक सिर के रोगी बन जाते हैं।

बालक के उद्दंड होने का प्रधान कारण बचपन का स्नेहहीन वातावरण होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार उद्दण्डता का अपराध उसी प्रकार मानसिक रोग है जिस प्रकार अकारण भय, चिंता, हिस्टीरिया, बाध्य विचार आदि मानसिक रोग हैं। ये रोग कभी-कभी शारीरिक रोग का भी रूप धारण कर लेते हैं। मानसिक रोग और अपराध की मनोवृत्ति एक दूसरे में परिवर्तित भी हो जाते हैं। हमारा एक रोगी पहले हृदय के रोग, अकारण भय तथा चिंता से पीड़ित था। वह एक समय अपने बिस्तर से भी उठ नहीं सकता था। उसको भय था कि वह बिलकुल निकम्मा हो चुका है। इसका कारण उसके मन में अपनी कामचेष्टा के प्रति पाप की दमित भावना थी। वह हस्तमैथुन करने का आदी बन गया था। पीछे उसे ज्ञात हुआ कि इस क्रिया को करने-वाला व्यक्ति अपनी सभी मानसिक और शारीरिक शक्तियों को खो देता है। इस बात ने उसके मन में भारी भय के भाव उत्पन्न कर दिए। ये भाव भी उसके अचेतन मन में घर कर गए। फिर अपनी भयानक कल्पनाओं के अनुसार उसकी शारीरिक क्रियाएँ भी होने लगीं। पहले तो उसने अपनी स्मरण शक्ति को खोया। वह पढ़ाई में फेल होने लगा! पीछे उसके चित्त की एकाग्रता भी जाती रही। फिर उसका सभी प्रकार का आत्मविश्वास जाता रहा। वह शरीर से रोगी रहने लगा। जैसे-जैसे उसकी चिकित्सा होती गई, उसका रोग भी बढ़ता गया और एक समय वह बिस्तर पर से उठने योग्य ही न रह गया।

उक्त रोगी की जब मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की गई तो वह शरीर से पूर्ण स्वस्थ हो गया। परन्तु अब उसके मन में अपने बड़े भाई और अपने माता-

पिता के प्रति प्रबल द्वेषभाव जाग्रत हो गए। वास्तव में इस व्यक्ति ने अपने माता-पिता से वैसा स्नेह नहीं पाया था जैसा उसके दूसरे भाइयों ने पाया था और उसके कारण उसके मन में अपने सभी संबंधियों के प्रति बचपन से ही द्वेषभाव दमित अवस्था में थे। इन्ही के कारण उसे हस्तमैथुन की आदत लगी थी और इसके भय के कारण उसे शारीरिक रोग उत्पन्न हुआ था। जब शारीरिक रोग जाता रहा और उसके जीवन में निराशा की जगह आशा का संचार हुआ तो उसके साथ-साथ अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेषभाव भी क्रियमाण हो गए। यह व्यक्ति अब वयस्क युवक हो चुका था। अतः उसका आचरण सारे परिवार के लिए भारी समस्या बन गया।

अपराधी बालक अपने प्रति किए गए अत्याचार का बदला अपने अनजाने ही अपने माता पिता, बड़े भाई, अन्य सम्बन्धियों तथा पूरे समाज से लेता है। इस तरह वह उन लोगों को परेशान किए रहता है। यह भी प्रेम प्राप्ति का विकृत मार्ग हैं। अपराधी बालक अपने माता-पिता को दुखी बनाता है। वे उसे भुला नहीं सकते। वह कुछ-न-कुछ समस्याएँ उनके सामने उपस्थित किए ही रहता है। जब ऐसे बालक को दण्ड द्वारा सुधारने की चेष्टा की जाती है तो उसका मानसिक विकार और भी बढ़ जाता है। फिर दण्ड पाना ही बालक का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। विकृत मनोवृत्ति का बालक माता-पिता का दण्ड पाने के लिए ही सहज में कोई अनुचित बात करते रहता है।

अपराधी अथवा उद्दंड बालक के जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि स्नेहहीनता के साथ-साथ उसकी प्रबल मूलप्रवृत्तियों का कठोरता से दमन हुआ है। ऐसे बहुत से बालकों में आत्मप्रकाशन की प्रवृति तथा कामवृति का दमन पाया जाता है। जिस बालक की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति दमित होती है वह दूसरे बालकों के प्रति ईर्ष्या का भाव मन में रखता है। उसके मन में आत्महीनता की भावना रहती है। आत्महीनता की यह भावना बालक को ऐसे कार्य करनेकी प्रेरणा देती है जिससे वह अपने को दूसरों से अधिक बली समझ सके। इस प्रेरणा के कारण वह दूसरे बालकों को मारता-पीटता है और उनकी वस्तुएँ चुरा लेता है। विकृत कामप्रवृत्ति के दमन के कारण भी बहुत से बालकों में उद्दंडता की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण कितने ही बालकों को चोरी की आदत लग जाती है।

ऐसे बालकों के सुधार के लिए पहली आवश्यकता बालक को सच्चा स्नेह देना है। प्रत्येक सुधारक को चाहिए कि बालक के हृदय की बात को जानने की चेष्टा करे। उद्दंड बालक के मन में भी कहीं-न-कहीं भलाई बैठी रहती है। वह

प्रेम का भूखा रहता है। वह एक प्रकार का मानसिक रोगी है। और जिस प्रकार प्रत्येक मानसिक रोगी ऐसे व्यक्ति की हार्दिक खोज में रहता है जो उसके मन की बात को सुने, उसी प्रकार प्रत्येक उद्दंड बालक भी सहानुभूति से सुननेवाले व्यक्ति की खोज में रहता है। अपराधी बालक के मन में यह विश्वास ही नहीं होता कि कोई भी व्यक्ति उसे सहानुभूति दिखा सकता है। यदि ऐसा व्यक्ति उसे मिल जाय तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जाय।

प्रत्येक अपराधी व्यक्ति में उसी प्रकार आत्मविश्वास का अभाव रहता है जिस प्रकार मानसिक रोगी में। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भला सिद्ध करने की कोशिश करता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में भले बनने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही हम बुरे से बुरे व्यक्ति का भी सुधार कर सकते हैं। अतएव हम किसी व्यक्ति का अपने आपकी भलाई कर सकने की योग्यता में जितना ही अधिक विश्वास बढ़ाते हैं, उतना ही हम उसे भलाई की ओर ले जाते हैं। यदि किसी बालक में कोई कमजोरी है, तो उसका ढिढोंरा पीटना, उसे बिगाड़ने का होता है। किसी भी व्यक्ति को सुधारने का पहला कदम, उसके प्रति स्नेह दिखा कर उसकी भलाइयों के प्रति उसकी दृष्टि ले जाना है। इस प्रकार उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है। जो व्यक्ति अपराधी बालक को उसका अपराध जानते हुए भी प्यार करता है, वह बालक का स्नेहपात्र बन जाता है, बालक उस पर विश्वास करने लगता है। फिर दूसरे पर किया गया विश्वास ही कालान्तर में अपराधी-बालक का आत्मविश्वास बन जाता है।

जो व्यक्ति दूसरों की भलाई में विश्वास करता है, वही अपनी भलाई कर सकने की योग्यता में विश्वास कर सकता है। ऐसे व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवती होती है, और कल्पना रचनात्मक। दूसरे के प्रति किये गये प्रेम से उसमें विश्वास उत्पन्न होता है जो कालान्तर में आत्मविश्वास बन जाता है। यही आत्म-विश्वास परमात्मामें विश्वास बनता है। इससे मनुष्य की कल्पनाएँ आशावादी अथवा रचनात्मक हो जाती हैं। इससे इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। आशा-वादी कल्पना का जब इच्छाशक्ति से संयोग होता है तो मनुष्य अनेक प्रकार के लोक-कल्याण के कार्य करता है; उसमें अनेक सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है, और उसके चरित्र का नवनिर्माण हो जाता है।

मनोवैज्ञानिकों ने अपराधी बालक के सुधार के लिये, वे ही उपाय बताये हैं जो मानसिक रोगी के सुधार के लिये। उन उपायों में प्रथम हैं 'स्नेह का भाव', और दूसरा बालक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। इसके लिये किसी भारी ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं; केवल इतना ही आवश्यक है कि हम बालक की

उपेक्षा न करें। वरन् उसकी प्रत्येक बात को धैर्यपूर्वक सुनें और सहानुभूति प्रदर्शित करें, उसे निराशावादी न बनने दें। जैसे-जैसे बालक अपनी पुरातन दुःखकी गाथा सुनाता है, उसके दमित भावों का रेचन होता जाता है और उसमें अपने को संभालनेकी शक्ति आ जाती है।

अपने मन को खोलकर रख देने की प्रणाली को ही मनोविश्लेषण कहा जाता है। मनोविश्लेषण स्नेह के वातावरण में सरल हो जाता है। स्नेह के वातावरण में व्यक्ति का मानसिक शिथिलीकरण स्वतः ही हो जाता है और वह अनायास ही ऐसी बातों को कह डालता है, जिन्हें वह अन्यथा नहीं कह सकता। साधारणतः मनुष्य अपने विचार-प्रकाशन के सम्बन्ध में सतर्क रहता है। यह सतर्कता, मूर्च्छा, बीमारी, स्वप्न तथा स्नेह की अवस्था में कम हो जाती है। मनोविश्लेषण में इस सभी अवस्थाओंके भावों को जाना जाता है। इस प्रकार भावों के प्रकाशित हो जाने से मानसिक खिंचाव अपने आप कम हो जाता है। अपराधी बालक के सुधारने का यह उपाय डा० विलियम ब्राउन ने बड़ा ही सफल पाया है, इसके लिये बीस से लेकर तीस घंटे तक का समय लगता है।

अपराधी बालक को सुधारने का दूसरा उपाय निर्देश-विधि का उपयोग है। इसके लिये बालक को बिस्तर पर लिटा देना चाहिये और उसे अपने अंगों को शिथिल करने का उसी प्रकार का निर्देश देना चाहिये जिस प्रकार का निर्देश व्यक्ति को संमोहन करते समय दिया जाता है। उसे आराम से आँख मूँदकर धीरे-धीरे साँस लेने के लिये कहा जाना चाहिये। इतना करने पर अंगों की शिथिलता आ जाती है। फिर जब वह सोने की अवस्था में हो जावे तो उससे कहना चाहिये कि उसको इच्छाशक्ति बलवान हो रही है और वह प्रतिभावान बन रहा है। यह याद रहे कि किसी भी मानसिक कमजोरी का इस समय नाम न लिया जाय। निर्देश नकारात्मक नहीं होना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों में चित्त की एकाग्रता की कमी होती है और उनकी स्मरणशक्ति कमजोर होती है। प्रतिदिन की निर्देश-चिकित्सा से इन शक्तियों में सुधार हो जाता है और इस सुधार के कारण मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ जाता है; फलतः वह अपना सुधार सहज ही में कर लेता है।

पर यहाँ यह स्मरणीय है, कि निर्देश-चिकित्साके पूर्व, रोगी अथवा अपराधी व्यक्तिका मनोविश्लेषण होना नितान्त आवश्यक है। मनोविश्लेषण से जब ऐसे व्यक्ति के दमित भावों का रेचन हो जाता है, तभी निर्देश-चिकित्सा विधि अपना काम ठीक से कर पाती है।



मनोविज्ञानशाला में उपचार

मेरा हृदय का रोग कैसे गया

मैं आज से तीन वर्ष पूर्व काशी मनोविज्ञानशाला में शुक्ल जी के पास अपनी परेशानी को लेकर आया। मैंने सुन रक्खा था कि वे बात चीत के द्वारा ही बहुत से रोगों को अच्छा कर देते है। मुझे कई प्रकार के रोग थे। मेरी तबीयत हर समय घबराया करती थी; मुझे भूत से सताये जाने का और सांप से काटे जाने का भय सदैव लगा रहता था। मुझे हृदय की गति रुकने का भय होता था। कभी-कभी मैं वास्तव में हृदय की गति रुकने जैसी बात का अनुभव करता था। इसके कारण मैं कई बार बेहोश हो चुका था। मेरी स्मरण शक्ति कमजोर हो गई थी। मुझे कुष्ट रोग हो जाने का भय लगा रहता था। कभी शरीर पर सफेद दाने देखूँ तो मुझे भय हो जाता था कि अब सफेद कुष्ट का प्रारंभ हो गया। अब यह सारे शरीर में फैल जाएगा। मुझे कब्जियत सदा रहा करती थी। सिर में भी पीड़ा होती रहती थी। इसके लिए मैंने चश्मा खरीदा। इससे सिर की पीड़ा कुछ कम हुई, परन्तु फिर भी हो जाया करतीं थी। मैं कभी-कभी अपने स्वप्न में देखता था कि मेरे सारे शरीर में कुष्ट रोग हो गया है। मुझे एक बार गठिया-बात भी हुआ था।

शुक्ल जी ने मेरे रोग का वृत्तान्त बड़े ही धैर्य के साथ सुना। उन्होंने मुझसे अपने जीवन की लज्जा ग्लानि, ईर्ष्या, क्रोध, शोक आदि सम्बन्धी बातों को लिखने का आदेश दिया। मुझे अपने प्रतिदिन के स्वप्नों को भी लिखने को कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मेरे साथ बड़े ही प्रेम का व्यवहार किया। एक विस्तर पर मुझे लिटा कर हल्के हाथ से मेरे ऊपर हाथ फेर कर मुझे सुला दिया। जब कभी शुक्ल जी मेरे बदन पर हाथ फेरते थे तो मुझे बड़ा आराम का अनुभव होता था। मुझे लगता था कि मेरे सिर पर से पचासों मन का बोझ उतार दिया गया है।

मैंने अपने जीवन की घटनायें विना किसी प्रकार के दुराव या छिपाव के लिख डाली। और उनको शुक्लजी को पढ़कर सुना दिया। मेरे जीवन में अनेक प्रकार के विकृत काम वासना के अनुभव हुए हैं। इनके कारण मुझे बड़ी आत्म-ग्लानि होती थी।

अब मैं समझता हूँ कि इस प्रकार को काम वासना सम्बन्धी अनुभव प्रत्येक नवयुवक को होते हैं। अतएव मेरा अपने आप को उनके लिए कोसना व्यर्थ ही था।

मेरे पिता नैतिकता में बड़े ही कट्टर हैं। मैं घर का अकेला लड़का हूँ। मुझे आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते थे। अतएव मेरे रहन सहन की बड़ी निगरानी की जाती थी। स्वतन्त्रता से कहीं भी नहीं जाने देते थे। छोटी सी भूल के लिए बड़ी डाट डपट मिलती थी। इसके परिणाम स्वरूप मैं पिता को मन ही मन घृणा करने लगा था। मैं अपने घर को जेल के समान समझने लगा था और जिस प्रकार कैदी जेल से आँख बचाकर भागता है, उसी प्रकार दो बार घर से भागा और कलकत्ते नौकरी की तलाश में पहुँचा। वहाँ से मैं पहली बार माँ के स्नेह के कारण अपने आप घर आ गया; परन्तु दूसरी बार अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित हो गया था। मुझे खून की कमी, लीवर की खराबी, गठिया आदि रोग हो गये थे। मैं अपने कुछ दूर के रिश्तेदारों के पास ठहरा हुआ था, पर मन ही मन सोचता था किसी प्रकार घर वापस चला गया होता तो अच्छा होता। सम्भवतः इसी कारण रोग हुआ था।

मैं बचपन में १४-१५ वर्ष की अवस्था तक सोते-सोते बिस्तर पर पेशाब कर देता था। मैं स्वप्न में देखता था कि पेशाब बाहर कर रहा हूँ। पर बिस्तर गीला हो जाने पर मेरी नींद खुल जाती थी। जब मैं बिस्तर को भींगा देखता था तो मुझे बड़ी आत्मग्लानि होती थी। इसके लिए मेरी माता मुझे डाटती पीटती भी थी। मैं इस रोग से अपनी मुक्ति चाहता था परन्तु वह किसी प्रकार नहीं छूटता था। यह रोग बड़े होने पर अपने आप न जाने कैसे छूट गया। मानसिक चिकित्सा कराते हुए मुझे ज्ञात हुआ कि इसका कारण मेरे मनमें बड़ों के प्रति भय का भाव ही था।

मैं शुक्ल जी के पास दो साल तक कई बार आया। मेरे आने का मुख्य प्रयोजन अपनी मानसिक चिकित्सा कराना नहीं रहा, केवल मैं उनके और उनके घर के लोगों के स्नेह के लिए ही आता रहता था। मैंने उन्हें अपने कई स्वप्न लिखकर सुनाये। मुझे कई बार गंगा में स्नान करने के, मोटर की दुर्घटनाके, आग लग जाने के अनेक स्वप्न हुए। इन स्वप्नों को मैंने लिखकर शुक्लजीको सुनाया। स्वप्नों को सुनाने से मेरा हृदय कुछ हल्का हो जाया करता था। शुक्ल जी स्वप्नों का कुछ न कुछ अर्थ बताते थे। उन पर मैं विचार करता रहता था।

मैंने कई बार शुक्ल जी के घर पर आनापानसति का अभ्यास किया। इस अभ्यास को करते करते मैं सो जाया करता था। जब सो के उठता था तो मुझे काफी मानसिक शान्ति मिलती थी। इस अभ्यास को मैं घर पर भी किया करता था।

मेरे मन में पिता के प्रति बड़े भय के भाव थे। इसके निराकरण के लिए शुक्ल जीने मुझे उनके प्रति मैत्री भाव का अभ्यास करने का आदेश दिया। मैं मन ही मन अपने पिताके प्रति शुभ कामनायें करने लगा और उनके गुणों का चिन्तन करने लगा। अपने साथियों और बच्चों के प्रति भी यही अभ्यास करता था। बच्चों को फल और मिठाई लाकर खिलाया करता था। इससे मेरा भूत का भय, कुष्ट रोग होने का भय और हृदय का रोग समाप्त हो गया। मुझे अब दो साल से मूर्छा नहीं हुई।

इस चिकित्सा की विशेषता मैंने यह देखी कि मुझे अपना रोग विस्मृत सा हो गया। मुझे यह पता ही नहीं चला कि मेरा कौन सा रोग कब छूट गया। मैं अब भी शुक्ल जी के यहाँ रोगी बनकर नहीं अपितु उनका स्नेही शिष्य बनकर आया करता हूँ।

[उपर्युक्त वार्ताका लेखक २५ वर्ष का सुन्दर स्वस्थ आदर्शवादी नवयुवक है। इसके पिता एक सुशिक्षित आदर्शवादी देश भक्त हैं। इस समय यह एम० ए० की परीक्षा की तैयारी में लगा है। इसके विचार अब आशावादी और रचनात्मक हैं।—संपादक]

२ मूर्छा

मेरी व्याधि मानसिक होते हुए शारीरिक में परिवर्तित हो गई थी। मेरे शारीरिक व्याधि का वर्णन इस प्रकार है। जब मैं कोई कार्य, जो दिमाग से करना होता था, करता तो कान लाल हो जाते, कुछ घबराहट सी मालूम होती और फिर ऐसा लगता जैसे मैं सब कुछ भूल गया। ऐसा होते ही किसी भी प्रश्न का उत्तर देने योग्य न रह जाता था। कोई भी यदि मुझसे प्रश्न करता तो मैं उसका उत्तर न दे सकता, परन्तु प्रश्न समझ जाता और उत्तर मन में ही रह जाता। इस प्रकार से हर क्षण मुझे बेचैनी रहती और समय-समय पर ऐसा लगता जैसे अब मैं भूल गया। उस समय यदि मैं किसी को बुलाना चाहता तो बुला भी नहीं सकता। मेरी अवस्था बेहोशी की हो जाती इस प्रकार की क्षीणता आ गई थी।

मानसिक व्याधि कुछ ऐसी थी जो स्वयं मैं नहीं समझ पाता था। मैं अपनी पत्नी से काफी दूर था और उसके प्रेम से मैं काफी प्रभावित था। हमेशा मुझे उसकी याद आती रहती। परन्तु मैं उससे मिलनेसे मजबूर था। इस प्रकार हमेशा किसी न किसी प्रकार की भावना सोचने को बाध्य किया करती और मैं हमेशा सोचा करता था। किसी भी सुरुचिपूर्ण या अरुचिपूर्ण कार्य क्यों न हो। कुछ न कुछ अवश्य सोचा करता था।

मैं पहले इस रोग को दूर करने के लिये अनेक डाक्टर और वैद्यों से मिला, परन्तु मुझे कुछ भी फायदा न हुआ। कुछ लोगों ने दिमाग की कमजोरी बतलाई और कुछ लोगों ने शारीरिक कमजोरी बतलाई। इस प्रकार मैं उन लोगों से उपचार कराता रहा, परन्तु मुझे कोई फायदा नहीं हुआ और यह प्रतिक्रिया बढ़ती ही गई।

इस प्रकार मैं दवाओं से अपना उपचार कर रहा था। एक सज्जन जो हमारे पड़ोस में रहते थे, इन्सपेक्टर आफ स्कूलस थे, उनको मेरी सारी परिस्थिति मालूम थी। श्रीशुक्लजी उस समय इन्सपेक्टर महोदय के साथ निरीक्षण में गये हुए थे। उन्होंने मेरे विषय में शुक्लजी से बातचीत की और अपने साथ उन्हें घर तक ले आये। मैं मिलने के लिये बुलाया गया और इस प्रकार शुक्लजी से मेरा परिचय हुआ। मैं उनके सम्पर्क में आया। इन्सपेक्टर साहब के यहाँ मैं जाता था। उनका लड़का भी मेरे ही साथ पढ़ता था, अतः उनकी श्रद्धा मुझपर हुई।

शुक्लजी ने मुझसे टहलने के लिये कहा और मेरे साथ-साथ चलने के लिये तैयार हुए। हम लोग घूमते हुए एक निर्जन स्थान, जो जनन्यायालय के पास था, पहुँचे और एक कुएँ पर जाकर बैठे। हम लोगों ने अमरूद खरीदे और उस कुएँ पर बैठकर खाया। इसके बाद बातचीत आरम्भ हुई। अपने पारिवारिक तथा घर आदि के परिचय के बाद मैंने उन्हें अपने बचपन से अबतक का हाल बतलाया। मेरे माता-पिता हैं और चाचा चाची तथा पिताजी की माँ मेरे परिवार में थीं। मेरे तीन भाई तथा दो बहनें थीं। मैं ही सब से बड़ा था और उस समय मेरी अवस्था १६ वर्ष की थी; शादी हुए १ वर्ष हुआ था। घरसे काफी दूरी पर एक रिस्ते में रहकर पढ़ता था। घर भी बहुत ही कम जाता था। मेरे बचपन के दिन किस प्रकार बीते उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे है।

मैंने प्रायमरी शिक्षा अच्छी तरह पास की उस समय मेरे एक शिक्षक का आचरण खराब था, अतः वह मुझसे अपनी वासना पूरी करना चाहता था। उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। मैंने वह स्कूल छोड़ दिया। इसी बीच मेरे कुछ लड़के ऐसे साथी हुए जो इस बात को जानते थे, अतः वे लोग मुझे नाना प्रकार के प्रलोभन देकर अपनी तरफ खींचने का प्रयत्न करते थे; मैं उन लोगों का साथ देने लगा। जब मैं मिडिल स्कूल में आया तो वे सभी साथी छूट चुके थे, परन्तु अब मेरी भी आदत खराब हो गई थी अतः मैंने वहाँ फिर अपने साथी बनाना शुरू किया और हमें एक अच्छा साथी मिल गया। हम दोनों हस्तक्रिया में एक दूसरे का सहयोग देते थे। इस प्रकार मिडिल

शिक्षा का अन्तिम वर्ष समाप्त हुआ और मैं आठवीं कक्षा में काफी संयमपूर्वक रहने लगा, क्योंकि उस समय मुझे इन कार्यों से काफी घृणा हो गई थी, आठवीं कक्षा पास करने पर वहाँ के वातावरण को भूलने और अन्य साथियों से छुटकारा पाने के लिये मैंने घर से काफी दूरी पर आकर शहर में शिक्षा प्रारम्भ की। घर तो देहात के बाजार में था।

शहर में आकर मेरे जितने साथी नये बने वे सभी चरित्रवान तथा अच्छे थे। अच्छी संगति का असर अधिक पड़ा और मैं इन कुप्रवृत्तियों से घृणा करने लगा तथा अत्यन्त ही संयमी और अच्छा बना। शिक्षा भी सफलतापूर्वक समाप्त की। इस समय मेरी उम्र १६ वर्ष की थी और मुझे शहर और देहात के रहन-सहन वातावरण और अपने मित्रों के सम्पर्क में रहने का काफी ज्ञान हो चुका था। मेरी शादी ६वीं कक्षा की परीक्षा देने पर हो गई। पत्नी अत्यन्त सुशील शिक्षित तथा सुन्दर होने के कारण मैं और भी प्रभावित हुआ। मेरा प्रेम उसके प्रति इतना अधिक हुआ कि मैं उसके सँभालने में असमर्थ रहा। संसार की सभी बुराइयों से ठोकर खाने के बाद मैं सुधर गया था। इस प्रकार मैंने शुक्लजी को अपने जीवन के प्रत्येक कार्यों का विवरण दिया। पहले तो मुझे यह सब बताने से हिचक हुई, परन्तु उनके बाध्य करने पर मुझे बताना ही पड़ा !

उपचार के लिये उन्होंने मुझे बताया (१) तुम अपने जीवन की समस्त घटनाओं को लिख डालो और उसे जब कभी अवकाश मिले तो पढ़ो।

(२) मुझे जिससे अधिक प्रेम हो उसका एक चित्र अपने पास रखूँ और जब इच्छा हो तो उसे जी भरकर देखूँ !

(३) जब मैं अपने को सोचता हुआ पाऊँ तो कुर्सी पर बैठ जाऊँ और सर कुर्सी के पिछले भाग में पीठ-टेक कर रख दूँ। इस प्रकार मुँह ऊपर की तरफ हो जायगा। अपना सोचना जारी रखूँ, उसमें जरा भी बाधा न आने दूँ।

(४) मुझे जिन कार्यों से घृणा हो उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखूँ उनमें मैं सहयोग न दूँ, परन्तु घृणा न होनी चाहिये !

(५) अपने प्रेमिका (पत्नी) से मैं पत्रव्यवहार करूँ।

(६) 'मानसिक चिकित्सा' नामक पुस्तक पढ़ने को कहा।

इस प्रकार उन्होंने उपचार बताया और फिर हम लोग वहाँ से टहलते हुए वापस आये। वापस आने पर शुक्लजी को बनारस आने के लिये स्टेशन पहुँचाया और उन्होंने मुझे 'मानसिक चिकित्सा' भेजने के लिये कहा !

इस प्रकार मैंने उपरोक्त सभी उपचार किये किन्तु मैं पहला उपचार अर्थात्

जीवन की घटनायें लिखकर उन्हें पढ़ना—यह न कर सका। अन्य सभी उपचार ठीक-ठीक किए। और मुझे सफलता मिली।

मेरा स्वास्थ्य एकदम सुधर गया। मुझे अब किसी भी प्रकार का न रोग है और न ऊपर लिखी हुई शिकायतें ही हैं। मैं अब स्वस्थ जीवन सुखपूर्वक बिता रहा हूँ।

इस प्रकार मैं आज फिर शुक्लजी से मिला और ३ वर्ष के बाद की वे बातें मैंने उन्हें बतलाईं। उन्होंने मुझसे लिखने के लिये कहा मैंने ये बातें लिखीं। मैं आजकल काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में बी० एस-सी० में पढ़ रहा हूँ और अत्यन्त स्वस्थ तथा सुखी हूँ।

मैं शुक्लजी की इस सेवा के लिये चिरऋणी रहूँगा। उन्होंने जिस प्रकार मेरे जीवन की रक्षा की है उसका मैं हृदय से आभारी हूँ।

—कैलाशचन्द्र

पेट का रोग

मैं अपनी जिन्दगी की कहानी क्या लिखूँ क्योंकि यह एक बड़ी लम्बी दास्ताँ है, आहों से भरी, आपदाओं का सम्मिश्रण।

यों तो मेरी बीमारी कब से प्रारम्भ हुई पूर्ण रूपेण ज्ञात नहीं है, पर १६४२ से होने वाली हालत जो १६५५ के अक्टूबर तक बनी रही है, आज भी मेरे मानस पटल पर ताजी बनी हुई हैं। विगत तेरह वर्षों की अवधि से मैं शारीरिक रोग से पीड़ित रहा और समय के अनुसार व्याधि बढ़ती गई। उस समय मैं ग्यारह वर्ष का किशोर बालक था और पेट की हालत बड़ी चिन्ताजनक रही। हमेशा पतला पाखाना होता रहा और पेट में गुरगुराहट तथा अपच की शिकायत बनी रहती थी। १६४४ ई० से पतले पैखाने तथा बीच-बीच में कब्जियत रोग ने अपना घर बनाया। शूल तथा पेचिस तथा पैखाने में आँव का आना जारी रहा। पर १६५१ में जब मैं मुजफ्फरपुर कालेज में दाखिल हुआ तो बीमारी जोर पकड़े हुई थी। आँव के साथ रक्त भी काफी मात्रा में आता और दिन भर में ६ तथा ७ दफे पैखाने जाने की नौबत बनी रही।

लेकिन सबसे बड़ी बीमारी जो मुझे थी वह एक प्रकार की हस्त मैथुन की क्रिया से मिलती जुलती थी। यह शायद मैं करीब आठ वर्ष की उम्र से करता रहा। रात हो या दिन बिस्तर पर लेटते ही लिंग को बिस्तर पर रगड़ना। इसका प्रत्यक्ष रूप से मुझे कोई कुप्रभाव नजर नहीं आ रहा था। जब मैं १५ वर्ष का था तो शिवानन्द की किताब 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' को पढ़कर तिल मिला उठा और मैंने सोचा कि जीवन का अमूल्य रत्न मैंने खो दिया है और

मेरी जिन्दगी निरर्थक हो गई है। साथ-साथ यह भावना जोर पकड़ती गई कि मैं नपुंसक हो रहा हूँ और एक ऐसी अवस्था आ गई, जब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मैं नपुंसक हो गया हूँ, और भगवान के दरबार में भी इसका इलाज नहीं। इसने मेरे जीवन में घोर निराशा के बादल छा दिए और मैं सोचने लगा कि मुझ जैसा निरर्थक तथा नाकामयाब लड़का इस धराधाम पर कभी अवतीर्ण नहीं हुआ होगा। इसके कारण मैंने घर छोड़ देने का विचार किया। यह सोचकर कि दूर रहने पर लोग मेरे बारे में नहीं जान सकेंगे और न मैं विवाह ही करूँगा। मैंने घर छोड़ने का निश्चय किया। किसी लड़की को माँग में सिन्दूर देकर निःसन्तान बनाने का पाप कौन ढोयेगा। सबसे दूर रहकर होटल में खाना खाकर और तकलीफ को भुलाने के लिये मदिरा का आश्रय लेकर इस जीवन की गाड़ी खींचने का निश्चय किया।

१९५१ में मैंने बहुत साहसकर अपने पिता को यह बात जाहिर की। रोग से मुझे इस तरह घबराहट दिखाई पड़ती थी कि मैं दिन भर अश्रु की झड़ी लगाये रहता था—अपनी असमर्थता तथा दुर्भाग्य की कहानी पर। मुझे तो शारीरिक तथा मानसिक दोनों रोग थे पर मैं आज समझ पाया हूँ कि इसकी जड़ केवल मानसिक रोग ही थी।

मुझे ऐसा भी महसूस होता था कि मुझे क्षय की भी शिकायत है और कुछ ही दिनों की मेरी जिन्दगी है। यह बीमारी मेरे बहुत पीछे दिनों की नहीं हैं बल्कि १९५४ के अक्टूबर मास तक की बात है जबकि यहाँ आने पर पेट का रोग विशेषकर डाइबिटीज की शिकायत ने सर सुन्दरलाल अस्पताल का प्रतिदिन का राही बना दिया। M. A की पढ़ाई कुछ समझ भी नहीं पाता था और विश्वविद्यालय के बगीचे में बिना उद्देश्य को घूमा करता था। अपने कमरे में बन्द होकर दिनरात रोता रहता था और मानसिक असमर्थता की बात अनुमान कर कमजोरी महसूस करने लगता था।

पिता को मैंने नपुंसकता की बात कही तो वे कुछ भी नहीं घबड़ाये और पटना के एक प्रसिद्ध डाक्टर सेन से सन् १९५२ के जनवरी में दिखलवाया। डा० ने आश्वासन दिया कि मुझे कोई भी भौतिक बीमारी नहीं है, और बतलाया कि नपुंसता आदि की व्यर्थ ही बात करते हैं। इसलिये उन्होंने एक पैसे तक की भी दवा नहीं लिखा। बहुत पहले मैंने पेट के रोग का इलाज अपने शहर के प्रसिद्ध डाक्टर के० एन० झा से कराया जो मेरे पिता के मित्र थे। करीब एक हजार रुपया उनसे इलाज कराने में खर्च किया। बीमारी कुछ दिनों के लिये दबी रहती थी पर एक महीना बीतते फिर जाग्रत हो जाती थी। नपुंसकता का

इलाज उसी डाक्टर से सन् १९५३ में कराया पर कोई भी लाभ नहीं हुआ। मैंने एक आयुर्वेद के वैद्य से भी दवा करायी पर उन्होंने तो प्रारम्भ में ही कुछ निराशा प्रकट कर दी।

गत वर्ष विश्वविद्यालयमें नाम लिखाने पर स्थान परिवर्तन होने के कारण लाभ होने के बजाय रोग और बढ़ गया और मेरी स्थिति दयनीय हो गई। पर एक शहर निवासी श्री शिवशंकर महासेठ जो श्री प्रो० शुक्ल जी से परिचित थे मुझे उनके यहाँ लिवा आये। मुझे तो कभी विश्वास नहीं था कि कोई मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी उसे चंगा कर सकते हैं। मुलाकात होने पर चाय पीने का आग्रह किया गया पर मैं चाय पीता ही न था। तब मुझे खोआ दिया गया और शुक्ल जी के साथ मिलकर पापड़ के रसास्वादनका अवसर मिला। उन्होंने मुझसे कोई भी बात नहीं पूछी और मुझे कुछ पत्रिकायें जो मनोविज्ञान सम्बन्धी थीं दिया और दूसरे दिन मिलने के लिये कहा। मैं दूसरे दिन मिलने आया पर मुलाकात नहीं हुई और मैं कुछ निराश सा हो गया। मैं सोचता था इधर उधर की बात करने की अपेक्षा मेरी बीमारी के बारे में क्यों नहीं पूछते पर अब समझ पाया कि उन बातों का कितना गम्भीर प्रभाव पड़ा मेरे चंगा होने में। पत्रिकाओं को पढ़कर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि अब मैं पूर्ण चंगा हो जाऊँगा और विश्वास कुछ जोर पकड़ने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि जब इतने रोगी अच्छे हो गये तो मैं कौन सा अभागा हूँ जो अच्छा नहीं हो सकता। चिकित्सक की बातों से तथा उनकी हृदय विशालता का मेरे ऊपर अधिक प्रभाव पड़ा।

मेरी कहानी उस समय सुनी गई जब कि पत्रिकाओं तथा कुछ रोगियों की घटनाओं को पढ़कर मैं कुछ चंगा सा महसुस करने लगा। तीन चार दफे मनोविज्ञानशाला में मैं आता रहा। एक दिन प्रो० शुक्ल ने मुझे एकान्त में अपनी सम्पूर्ण कहानी सुनाने को कहा।

मैंने अपने जीवन की सारी कहानी उनसे सुनाई। साथ-साथ यह भी बतलाया कि अपनी इच्छा के प्रतिकूल साथियों की वजह से एक लड़के के साथ मैंने व्यभिचार भी किया। मैंने बतलाया कि मुझे अपने पिता तथा माता के प्रति असीम श्रद्धा है पर मैंने उन लोगों को बातों से तथा अपने व्यवहारों से अधिक दुखित करना चाहा। मैं जानता था कि पिता मेरे सब से बड़े शुभाकांक्षी हैं पर फिर भी उनकी सुन्दर से सुन्दर सलाह को जो मेरे जीवन बनाने के निमित्त थी, मैं भंग करने में एक प्रकार का आनन्द प्राप्त करता रहा। इसलिये जब दो वर्षों तक पिताजी कालेज में नाम लिखाकर पढ़ने को कहते रहे, तो

मैंने उस समय तक नहीं पढ़ने का विचार किया। मैंने घर से पैसा लेना बन्द कर दिया और सोचा कि मैं अपनी जिन्दगी बर्बाद कर सकता हूँ पर पिता के पैसे से कभी नहीं पढ़ सकता।

मुझसे कहा गया कि मैत्री भावना को कार्यान्वित किया जाना चाहिये। गरीबों तथा निस्सहायों को सामर्थ्य के अनुसार दान देना चाहिये बच्चों को दिल खोलकर गले लगाना चाहिये और उनको प्रत्येक दिन मिठाई देनी चाहिए। जीवन की महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दे दी जाय क्योंकि उसकी पूर्त्ति नहीं होने से ही निराशावादिता आती है। तथा जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखना चाहिये। उनकी एक उक्ति ने मेरे जीवन के सारे ढांचे को बदल दिया और वह है 'ग्रेट ब्रिटेन के वासी लड़ाइयाँ हार जाएँ लेकिन महायुद्ध नहीं हार सकते हैं।' जीवन में मैंने तो कितने प्रेरणात्मक शब्द तथा कहावत सुने थे पर उपर्युक्त उक्ति ने तो जादू का प्रभाव दिखलाया। उस समय मुझसे कहा गया कि पिता से ही पैसा लो अध्ययन के लिये और उनसे पत्र-व्यवहार जारी करो। जब मैं इन सब बातों को व्यावहारिक रूप देने लगा तो दिमाग की निराशा लुप्त होने लगी और ऐसा विचार आया कि जो कुछ किया वह उतना बुरा नहीं, और पश्चाताप करने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं। मैं अक्षरशः उसको कार्यान्वित करने लगा और परिणाम-स्वरूप लाभान्वित होने लगा। मैं अपने में यह भावना भी भरता रहा कि अब मैं अच्छा हो रहा हूँ। इस तरह के विचार ने बड़ा भारी चमत्कार दिखलाया पेट की बीमारी के चंगा होने में। कुछ बच्चों के प्यार ने मेरे हृदय को लुभा लिया।

प्रो० शुक्लाजी के पितृ-तुल्य वाणी ने मुझे ऐसा विश्वास दिलाया कि अब घबराने की आवश्यकता नहीं। मैंने उनके जैसे उदारवान् तथा दयावान पुरुष को पा लिया जिसमें मेरी पितातुल्य श्रद्धा जाकर जम गई।

आनापातसति तथा शैथिलीकरण की क्रिया को भी करने के लिये कहा गया जिसमें शरीर को शिथिल कर साँस की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना था। सच पूछिये तो मैंने इस क्रिया को प्रथम बार बहुत दिनों तक नहीं किया। पर चिकित्सक की दूसरी विधि ने ही मुझे अधिकाधिक लाभ पहुँचाया। बीच में घबराहट के बढ़ जाने पर चिकित्सक के सलाहानुसार आनापान सति क्रिया से सत्य लाभ प्रकट होने लगे।

मैत्री भावना का मेरी घबराहट को हटाने में महान् हाथ रहा। पिता के प्रति जो अप्रत्यक्ष रूप से विरोधात्मक तथा घृणात्मक भाव जाग्रत हो गये थे, वे सभी मैत्री भावना में परिवर्तित हो गये। क्योंकि पिता को सोते समय पैर दबाने

की क्रिया को मन में लाने लगा और उनसे पैसा लेना तथा पत्र-व्यवहार भी जारी किया। सब से अधिक मैत्री की भावना हमारे गुरु शुक्लाजी में सिमट गई क्योंकि जीवन के अन्धकार बेला में प्रकाश की ज्योति उन्होंने छिटकायी। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा उत्साह बढ़ानेवाले शब्दों का मैं आजीवन आभारी रहूँगा। चिकित्सक की सहानुभूति मेरे साथ अधिक रही है।

मेरी हालत से ठीक मिलती-जुलती हालत मेरे एक साथी की रही। मैं उसकी दशा से दुखित था और उसका उत्साह बढ़ाता रहा। दुर्गापूजा की छुट्टी उसीके साथ बितायी। वह बहुत कुछ अच्छा भी हो गया। वह मेरा अंतरंग मित्र रहा है इसलिये मैं उसके लिये चिन्तित रहा। एक महीने का साथ रहना अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

बीच में मैंने उस क्रिया को पूर्ण रूपेण छोड़ दिया था और घनिष्ट लोगों से लड़ने की आदत पड़ गई केवल निराधार बातों के लिये। परीक्षा का समय निकट था और दो घंटा भी पढ़ना असम्भव हो गया था। श्री शुक्ल जी ने मुलाकात होने पर बताया कि जिन्दगी के लिये घबड़ाने तथा चिन्तित होने की क्या जरूरत है। मरने के बाद तो दूसरे हमारे कब्र खोदेंगे, मैं ही जीवन में क्यों कब्र खोदूँ। और यदि मैं नहीं पढ़ता तो क्या हुआ सन्तोष तो करना चाहिये। मैं उसी तरह किया और धीरे-धीरे घबराहट दूर हो गई और सात-आठ घंटे पढ़ भी लेता था। साथ-साथ आनापान सति का अभ्यास करता रहा। इससे परीक्षा का भी भय जाता रहा। यह दवा तो मिली पर देर से। अगर मुझे उनसे तीन-चार वर्ष पहले मुलाकात हुई होती तो जिन्दगी का नक्शा ही बदल गया होता। पर आज भी विश्वास है कि भावी जीवन सुखमय होगा।

सबसे बड़ी बात यह रही कि श्री शुक्ल जी दो तीन बार मेरे लाज में मुझे देखने के लिये गये। उनके विशाल हृदय की मैं क्या सराहना करूँ। इसका भी प्रभाव हमारे मानसिक तनाव कम करने में पर्याप्त रहा।

दो चार रोगियों की मुलाकात ने मुझे विश्वास कराया कि मुझे कोई भी बीमारी नहीं है। आज न मेरी जननेन्द्रिय छोटी मालूम पड़ती न नपुंसकता का ही कोई भय है। मैं अब पूर्ण चंगा हो गया हूँ। चिकित्सक की कृपा रही तो मैं सदा चंगा रहूगा और उन्नतिके पथ पर अग्रसर होता रहूँगा। आज मेरी सारी शिकायत दूर हो गई और ईश्वर उस महान आत्मा को दीर्घायु बनाये रक्खे जिससे हम दीन तथा रोगियों का कल्याण हो।

अचेतनमन की भाषा

साधारण लोग इस बात को नहीं जानते कि हमारे चेतनमन के पीछे एक ऐसा मन स्थित है जो हमारे व्यवहार को प्रभावित किया करता है। जिस प्रकार का ज्ञान हमें हमारे चेतनमन का होता है उस प्रकार का ज्ञान हमें अचेतनमन का नहीं होता। चेतनमन का ज्ञान हमें अन्तःदर्शन से होता है, अचेतनमन का ज्ञान व्यावहारिक होता है। वास्तव में अचेतनमन वस्तु स्थिति बाह्य जगत से लेता है, पर उसकी प्रकाशन पद्धति इस प्रकार की होती है कि उसका अर्थ लगाना बड़ा कठिन हो जाता है। अचेतनमन की भाषा प्रतीकवत होती है। एक ही प्रतीक का देश काल पात्र के अनुसार कई प्रकार का अर्थ हो सकता है। किसी विशेष परिस्थिति में किसी प्रतीक का क्या वास्तविक अर्थ है, इसके लिए उस व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करना नितांत आवश्यक हो जाता है। यह जानकर लोगों को आश्चर्य होगा कि अचेतनमन पदार्थ विषय वस्तु चेतन जगत से लेता है, पर उसका एक स्वतंत्र अस्तित्व है। चेतनमन का उस पर कोई अधिकार नहीं प्रत्युत वह स्वयं अचेतनमन से प्रभावित होता है।

मेरा जीवन कई वर्षों से द्वन्द्वमय रहा है। मेरे जीवन में काम का विशेष दमन रहा है। इसी कारण बहुत दिनों से मैं मानसिक रोग का शिकार रहा हूँ। वास्तव में शक्ति तो एक ही है, वही विकृत होकर कभी काम वासना के रूप में परिणित होती है और कभी अधिकार की भावना के रूप में परिणित होती है। फिर यही एक बार और विकृत होकर मृत्यु भावना के रूप में प्रकट होती है। काम वासना के दमन के पश्चात् मुझे कुछ दिनों तक मोटर की सवारी करने और सायकिल चलाने में शुक्रःक्षय का भय था, यही विकृत होने पर मृत्यु भय के रूप में प्रकट हुआ। मैं डरने लगा कि कहीं साइकिल से गिरकर अथवा मोटर से दबकर मेरी मृत्यु न हो जाय।

वैसे तो मेरे जीवन में अनेक जटिलताएँ आईं जिन्हें मैंने पूज्य शुक्ल जी के प्रसाद से निवारण किया। पर एक मानसिक रोग ने मुझे काफी परेशान किया। जिसका अध्ययन करने में मुझे चार वर्ष लग गए। इसके कारण मुझे काफी क्षीणता का अनुभव हुआ। वह फाउण्टेनपेन संबंधी था, मैं अपने मानसिक रोग का विश्लेषण इस प्रकार करता हूँ :—

(अ) जब मैं फाउण्टेनपेन से लिखने बैठता तो मुझे भय लगता था कि कहीं रोशनाई भीतर से टपक न पड़े इसके साथ-साथ मुझे यह भी भय लगता था कि कहीं मेरा वीर्यपात न हो जाय।

(ब) जब इस प्रकार काफी दिन व्यतीत हो गए और क्षीणता बढ़ने लगी तो मैं पेन को उलट कर लिखने लगा। जिससे कि वह भाग जहाँ से रोशनाई गिरती है मेरी दृष्टि के समक्ष न रहे कि वास्तव में रोशनाई गिर रही है कि नहीं। पर इस प्रकार मेरा भय और भी दृढ़ हो गया। उलट कर लिखते समय कागज से एक प्रकार की खुरखुराहट होती थी जिससे वीर्यपात का भय और भी बढ़ गया।

(स) लिखते समय अवसर मिलने पर फाउण्टेनपेन को या तो जमीन पर रख देता था अथवा उसका मुँह ऊपर करके हाथ में लिए रहता था।

(द) इस प्रकार का भय मुझे केवल लिखते समय ही होता था हर समय नहीं।

(य) लिखते समय शुक्र स्राव से शरीर में काफी क्षीणता मालूम होती थी और ऐसा प्रतीत होता था मानो सारी शक्ति धीरे-धीरे शरीर के बाहर निकल रही है।

(फ) जब फाउण्टेनपेन की रोशनाई समाप्त हो जाती थी तो वीर्यपात का भय भी समाप्त हो जाता था।

एक बात ध्यान देने की है कि जब हम रोग के कारण को जान नहीं लेते, और नाना प्रकार की विधियों का उपयोग करते हैं तो इससे केवल हमारे रोग का रूपान्तरण ही होता है। हमें चिरस्थायी शान्ति नहीं प्राप्त होती।

(ब)·कुछ दिन के उपरान्त मैंने फाउण्टेनपेन से लिखना ही छोड़ दिया और कलम दावात का प्रयोग करने लगा। पर कुछ दिनों तक मुझे शान्ति अवश्य मिली, पर बाद में फिर हमें भय लगा कि कलम की निब से कहीं रोशनाई न गिर जाय और इस की खुरखुराहट से भी वीर्यपात का भय होता था।

(ज) विशेष बात यह थी कि जब मैं परीक्षा अथवा कभी जल्दी-जल्दी कलम से लिखता तो वीर्यपात का भय नहीं था क्योंकि मैं समझता था कि रोशनाई तो जल्दी-जल्दी लिखनेमें ही समाप्त हो रही अतः वह गिर नहीं सकती।

मेरे उस मानसिक रोग ने मेरे जीवन में काफी विक्षिप्तता ला दी थी। चार पाँच साल के मनोविश्लेषण के पश्चात् एक दिन मैं शुक्ल जी से बात चीत कर रहा था कि उक्त रोग का कारण मुझे ज्ञात हुआ। वास्तविक बात यह थी कि मैं बहुत पहले से ही कामुक रहा हूँ और उतना ही नैतिक भी रहा हूँ। मैं अपनी शादी के चार पाँच वर्ष पहले से ही किसी न किसी मानसिक रोग का शिकार रहा हूँ। शादी के पश्चात् जब मेरी स्त्री घर आई तो मुझे स्त्री के समक्ष जाने में बड़ी हिचकिचाहट होती थी। मैं जब स्त्री के समक्ष जाने की सोचता तो ऐसा लगता कि स्पर्श के पहले ही मेरा वीर्यपात हो जायगा, अतः

मुझे अपने को काफी दमन करना पड़ता था। कभी-कभी तो ऐसा हो भी जाता था। यही रोग प्रतीक रूप में फाउण्टेनपेन से रोशनाई के गिरने के रूप में हुआ। इसी कारण जब मेरी स्त्री सभी कार्यों से छुट्टी पा सोने जाती तभी मैं उसके पास जाता था। जब मैं स्त्री सहवास करता तो भी तुरन्त ही वीर्यपात हो जाता था। अतः बलपूर्वक कुछ समय तक अधिक आनन्द लेने के लिए मैं दमन करता था।

यही बात प्रतीक रूप से इस प्रकार प्रकट हुई कि जब मैं फाउण्टेनपेन छोड़कर साधारण कलम से लिखने लगा। जब मैं अपनी कलम दावात के अन्दर डुबोता था और लिखने को तैयार होता मुझे ऐसा प्रतीत होता कि कागज पर रोशनाई अवश्य चूपड़ेगी। साथ-साथ वीर्यपात का भी तत्काल भय होता था। जब मैं स्त्री प्रसंग बलपूर्वक जल्दी-जल्दी करता तो फिर दमन की कोई बात ही नहीं थी। यही कारण था कि जब मैं परीक्षा के अवसर पर फाउण्टेनपेन से ही जल्दी-जल्दी पेपर लिखता तो वीर्यपात का भय न होता था और कुछ भी क्षीणता का अनुभव न होता था। इस प्रकार हम देखते कि किसी वास्तविक घटना और तत्सम्बन्धी मानसिक रोग में कितना शादृश्य होता है। यदि किसी मानसिक रोग के सभी तत्वोंका सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया जाय और उसके सभी लक्षणों पर विहंगम दृष्टि डाली जाय तो रोग के कारण का आसानी से पता पाया जा सकता है।

मानसिक रोग का कोई भी अंग अकारण नहीं होता। सबका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। यह हमारी कमी है जो उसके समुचित कारण को न समझ सकें। अचेतन मन एक विशाल भंडार है जो चेतन मन से कई गुना बड़ा है। अचेतन मन को जानकर हम अपने आपका लाभ कर सकते हैं जो आजीवन का चरम लक्ष्य है।

मूर्छा का रोग कैसे गया ?

मेरी कक्षा का इतिहास का विद्यार्थी जिसका नाम रामरंगसिंह था, प्रायः सभी लड़कों से उतेजित और एकान्तसेवी सा हो गया था, इसका कारण यह था कि कक्षा में बैठे-बैठे उसके मुँह से लार निकलना प्रारंभ हो जाता और वह मूर्च्छित हो जाता था। इससे कक्षा के सभी विद्यार्थी उससे घृणा करने लग गए थे। एक दिन की घटना है कि जब मैंने कक्षा में प्रवेश किया, तो विद्यार्थी सीट पर बैठने के लिये शोर मचा रहे थे। मेरे प्रवेश से शान्ति अवश्य हो गई, लेकिन सभी विद्यार्थियों ने यह शिकायत की कि मैं रामरंगसिंह के पास नहीं बैठना चाहता हूँ। रामरंगसिंह से पूछा कि तुम किसके पास बैठना चाहते हो ? उसका मुख क्रोध से परिपूर्ण हो गया। और उसने झल्लाकर कहा—"मुझे सब लोग घृणा करते हैं और मेरे पास बैठने से इन्कार करते हैं, तो क्या मैं क्लास के बाहर बैठूँ ?"

मैंने उसे कक्षा समाप्त होने के बाद मिलने के लिये कहा। कक्षा समाप्त होने के पश्चात् वह तत्काल हमारे पास आया। मैंने पूछा कि तुम्हें क्या तकलीफ है। वह लज्जित हो उठा और कहने लगा कि कक्षा में अनायास मेरे मुँह से अधिक लार की मात्रा निकल आती है और कुछ चक्कर-सा हो आता है। मैंने उससे पूछा कि यह रोग कितने दिनों से है। उसने उत्तर दिया कि करीब छः महीने हो गए। उसके बाद मैंने उसके गृह-सम्बन्धी वातावरण पर प्रश्न किए। इससे यह ज्ञात हुआ कि घर से यह विद्यार्थी अधिक अनुराग नहीं रखता। उसके पिता उसकी शादी शीघ्र करा देना चाहते थे। इसका उसने विरोध किया और पिता ने उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। इससे वह निराश रहने लगा। धीरे-धीरे सिर में दर्द और एकान्तमें रहने की इच्छा प्रबल होती गई। दूसरे लोगो से घृणा और ईर्ष्या होने लगी, जिससे सभी लोग चिढ़ाने लगे और हमारे चरित्र पर शंका करने लगे। कुछ लोगों ने यह आरोपित किया कि तुम्हें बुरे कुतैव पड़ गए हैं, जब कि मैं इससे अछूता रहा। कक्षा में बैठता था तो साथियों के चिढ़ाए हुए वाक्य सोचने लगता और जब इस पर अधिक विचार करना प्रारंभ किया तो कालान्तर में चलकर अनायास मेरे मुख से झाग निकलना शुरू हुआ। मैं इसके कारण को न जान सका और हीनता की ग्रन्थि में बँधता गया। उसके इन वाक्यों को सुनकर मैंने कहा कि तुम्हारा यह रोग क्षणिक है और तुम जल्द भले हो जाओगे। तब उसने यकायक कहना प्रारम्भ किया कि इसी के कारण अब मेरी शादी भी नहीं होती। मैंने उसे सलाह दी कि सोते समय

आनापानसति का अभ्यास किया करो। मैंने आनापानसति की विधियों को निर्दिष्ट किया।

उसने इसका अभ्यास किया। जब वह मेरे सामने आता था, तो लज्जा से सहम जाता था, हमारी कक्षा में सभी विषयों को भली-भाँति पहिले से तैयार करके आना प्रारम्भ किया। मैंने जान बूझकर कक्षा के सभी विद्यार्थियों के समक्ष उसकी प्रशंसा करना प्रारंभ कर दिया और कक्षा में ही सब विद्यार्थियों से कहना प्रारंभ किया कि यह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी है पढ़नेमें तुम लोगोंसे तीव्र बुद्धि-वाला है। एक महीने के अन्दर ही उसका क्लान्त चेहरा हरा हो गया। मैं नित्य उससें उसकी बीमारी के बारे में पूछता रहा और सान्त्वना देता रहा कि तुम जल्दी अच्छे हो जाओगे। एक महीने के अन्दर विद्यार्थी भला-चंगा हो गया। अब कक्षा के सभी विद्यर्थी उससे स्नेह करने लग गए हैं। जिन अध्यापकों की कक्षा में वह एक त्याज्य विद्यार्थी के रूप में गिना जाता था, सभी लोग उसे आदर की दृष्टि से देखने लगे, क्योंकि इसके पूर्व चिन्ता करने के कारण वह पढ़ नही पाता था। मेरे प्रोत्साहन से उसने अपने को एक अच्छा विद्यार्थी मान लिया। अन्य अध्यापकगण उसकी गणना उन विद्यार्थियों में करते थे जो कि दसवीं कक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले थे। यह घटना अक्टूबर मास की है। अक्टूबर मास में मेरे कालेज में २४ दिन की छुट्टी हुई। इस छुट्टी में विद्यार्थी ने अपने को हीनता से मुक्त किया और परिश्रम करना प्रारम्भ किया। फरवरी के अन्त तक उसकी गणना प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों में होने लगी। अब वह हाई स्कूल की परीक्षा दे रहा है। उसका रोग उससे सैकड़ों कोस दूर भाग गया है।

—रवीन्द्र उपाध्याय

स्नेह का चमत्कार

मेरी कक्षा अंग्रेजी की थी। इस कक्षा में एक अत्यन्त ही उद्दण्ड स्वभाव का लड़का था। वह दूसरों की पेन, पर्स, पुस्तकें चुरा लेता और प्रायः सन्ध्या का समय सिनेमा घरों के सामने बिताया करता था। मैं बोर्डिंग का अधीक्षण था। नित्य ही मेरे पास उसकी शिकायत आती रहती। मैंने एकान्त में इस लड़के से बातचीत की। उससे ज्ञात हुआ कि बाल्यावस्था में उसकी माँ रुग्ण थी एवं पिता के क्रोधी स्वभाव के कारण वह उद्दण्ड एवं घर के प्रति विरक्त हो गया। घर की चीजों को बाजार में बेंच आता और सिनेमा तथा धूम्रपान में उसे खर्च करता। अध्यापकों के आदेश देने पर वह बालक कहता कि मैं कितनी कोशिश करता हूँ कि धूम्रपान छोड़ दूँ, पर उसे छोड़ नहीं सकता। पिता का मनीआर्डर जब उसके पास पहुँचता, तो वह उसका दुरुपयोग कर डालता। अध्यापक ने उसकी इन बातों के कारण उसका विरोध न किया, बल्कि स्नेह-द्वारा उसके विचारों और संस्कारों में परिवर्तन कर दिया, जिसके फलस्वरूप वह खेल-कूद और पढ़ने में भी योग्य होगया। अर्धवार्षिक परीक्षामें अंग्रेजीमें उसने प्रथम स्थान अधिकृत किया। मैंने उसे कई बार कक्षा कार्य करने को कहा था, परन्तु वह बराबर उसकी उपेक्षा करता रहा। एक दिन धूम्रपान करते हुए कक्षा में जाने के पूर्व उपर्युक्त अध्यापक ने उसे देख लिया। इससे वह बालक बड़ा संकुचित-सा हुआ। घंटा समाप्त होने पर अध्यापक के आदेशानुसार वह उनसे एकान्त में मिला। अध्यापक ने उसे अपने घर ले जाकर उन आदतों के पड़ने का कारण पूछा। उत्तर मिला कि अन्य अध्यापक मुझे पीटते हैं और दण्ड देते है, तथा मेरी बुराई ही किया करते हैं। कक्षा में अन्य सहपाठी भी मेरी उपेक्षा ही करते हैं कि मुझमें गन्दी आदतें हैं। अध्यापक ने उसे स्नेह से भोजन कराया और उसे पाँच रुपए दिए। उसका परिणाम यह हुआ कि दो-तीन दिनों तक वह विद्यार्थी बहुत ही व्यथित रहा, फिर कक्षा में दिन-प्रति दिन उन्नति करता गया। आज वह विद्यार्थी सकुशल पढ़ रहा है। वह अपनी सभी गन्दी आदतों से मुक्त हो चुका है।

अध्यापक ने जब उक्त बालक से स्नेह-पूर्वक बात चीत की थी, तो बालक आत्मग्लानि के कारण रो पड़ा था। इसके बाद उसका सुधार आरंभ हुआ।

—प्रेम शंकर व्यास M. A.

मानसिक चिकित्सा एवं मैत्रीभाव

चिकित्सक के मन द्वारा रोगी के मन से स्थापित मैत्री संबंध मानसिक चिकित्सा की सबसे सरल प्रणाली है। अत्यधिक सरल प्रणाली में प्रायः कठिनाइयाँ उपस्थित रहती है इस दृष्टि से इसका सविस्तार वर्णन करना आवश्यक है। मानसिक-चिकित्सा के अन्तर्गत चिकित्सक रोगी के मन का सुधार करने का प्रयत्न करता है। किसी भी व्यक्ति के सन्निकट पहुँचने के लिए मन के अतिरिक्त कोई अन्य माध्यम उपलब्ध नही है। इस दृष्टि से चिकित्सक की मानसिक स्थिति प्रतिभाशाली एवं आकर्षक होना परमावश्यक हैं जो चिकित्सार्थी के मन को प्रभावित कर सके। मानसिक रोगी अपने मानसिक रोग के कारण मानसिक अस्थिरता का अनुभव करता है। उसकी स्थिति एक ऐसे भवन की तरह होती है जो बाहर से विशेष जीर्ण न हो परन्तु जिसकी नींव डगमगा गई हो। इस प्रकार की मानसिक अस्वस्थता के कारण मानसिक रोगी बेचैन रहता है। न तो वह अपने में ही विश्वास करता है और न अन्य किसी व्यक्ति में। इस आत्मविश्वास की कमी के कारण उसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण बना रहता है जो उसके आत्मविश्वास का अधिकाधिक ह्रास कर उसके जीवन को विफलताओं का एक केन्द्र बना देता है।

चिकित्सार्थी को इस प्रकार की स्थिति से ऊपर उठाने के लिए चिकित्सक सर्वप्रथम चिकित्सार्थी से सहानुभूति पूर्वक नम्रता से मिलता है। मैंने नम्र शब्द का प्रयोग किया है कि केवल प्रेम से ही चिकित्सार्थी संतुष्ट नहीं होता है वरन वह चिकित्सक के प्रेम को साधिकार रूप से खीचना चाहता है। चिकित्सक का दिखावटी प्रेम या सहानुभूति चिकित्सार्थीको विशेष लाभ नहीं पहुँचा पाता। यदि चिकित्सार्थी को यह धारणा हो जाय कि चिकित्सक का ध्यान उसकी ओर नाममात्र है या वह किसी अन्य चिकित्सार्थी की ओर अधिक ध्यान देता है, तो चिकित्सार्थी निश्चित रूप से चिकित्सक की ओर आकृष्ट न होगा और न तो दोनों के मानसिक संबंध विशेष स्वास्थ्यप्रद होंगे। चिकित्सक एक ऐसी माता की तरह है जिसे अपने सब बालकों पर समबुद्धि से ममता करने का प्रयत्न करना पड़ता हैं। जिस प्रकार माँ की ममता का आधार त्याग है उसी प्रकार चिकित्सक का चिकित्सार्थी के प्रति प्रेमभाव या मैत्रीभाव त्याग पर आधारित है। चिकित्सा की प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सक चिकित्सार्थी की चिकित्सा में कोई रूचि नहीं दिखाता बल्कि वह चिकित्सार्थी में ही विशेष रूचि रखता है। इस प्रकार चिकित्सा का प्रारम्भ चिकित्सार्थी के व्यक्तित्व की आराधना के साथ आरम्भ

होता है। चिकित्सक द्वारा आत्म सम्मान एवं सहानुभूति चिकित्सार्थी को धैर्य प्रदान करती है। चिकित्सार्थी अब धैर्य के साथ अपने मानसिक दौर्बल्य का समावलोकन करने की ओर अग्रसर होता है। चिकित्सार्थी चिकित्सक को एक विश्वस्त मार्गदर्शक के रूप में देखता है। इस प्रकार चिकित्सक एवं चिकित्सार्थी के बीच स्थापित प्रेम संबंध चिकित्सार्थी को चिकित्सक के समीप लाकर उपस्थित करता है। जिससे चिकित्सार्थी विना किसी रूकावट के अपने सम्पूर्ण अनुभवों का परिचय चिकित्सक को कराता है।

मैं यहाँ एक ऐसे बालक का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जिसके सम्पर्क में लेखक १ वर्ष रहा है। यह बालक नौ वर्ष का था तथा इसे कभी २ हिस्टीरिया के दौरे आया करते जो ठीक ६ बजे रात्रि को प्रायः आरम्भ होते। दौरे के समय बालक रोने का प्रयत्न भी करता और न रोने का भी। इससे स्वासोच्छ्वास बंद हो जाता और वह बैचेन होता। उसके माता-पिता से पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि उसके विवाह के पश्चात् प्रायः दस वर्ष पर्यन्त वे अलग २ रहे। इसका मुख्य कारण था मेरे मित्र का विश्वविद्यालय अध्ययन तथा आर्थिक कष्ट। परिणाम स्वरूप उपर्युक्त बालक अपनी माता के साथ जीवन के प्रारम्भिक छः वर्षों तक अपने मातामह के घर रहा। इस वालक का जगत इस प्रकार उसकी माँ से ही व्यक्त रहा। वह अपनी माँ के साथ नित्य सोता। जब वह छः वर्ष का था रात्रि में नित्य की भाँति उसे सुलाकर उसकी माँ कुछ काम करने के निमित्त उठी। कुछ देर में वह जाग गया और रोने लगा। उसके पितामह ने उसे डाँट दिया और वह सिसकते सिसकते सो गया। इस समय प्रायः नौ बजे थे। इसके कुछ ही दिन पश्चात रास्ते में खेलते हुए उसे कुछ कुत्तों ने भगाया और उसने दौड़कर घर में शरण ली। इस दिन रात्रि में नौ बजे उसे प्रथम बार दौरा आया। इसके परिणाम स्वरूप वह ४-५ दिन काफी शिथिल रहा। इसके पश्चात वह जब अपने पिता के यहाँ आकर रहने लगा तब उसे बीच २ में दौरे आते रहे। प्रायः दौरे उसी दिन आते जिस दिन उसे अपनी माँ से उदासीन व्यवहार का अनुभव होता था। इस बालक में यह विशेषता यह थी कि वह कभी रोता न था। मार खाने पर चुप खड़ा रहता था। उसके पिता ने उसे रुलाने के लिए काफी मारा भी था। बालक के इस व्यवहार से लेखक बालक की ओर आकृष्ट हुआ। अपनी माँ पर निर्भर होने के कारण आरम्भ में उसे लेखक से बातचीत करने और खेलने में काफी हिचक थी परन्तु कुछही दिनोंमें कुछ भी हिचकन रही। लेखकसे वह काफी स्वतंत्र होकर मिलता था। वह लेखककी जो भी वस्तुएँ देखने के बहाने लेता उसे आसानी से वापस न करता और न तो उसे वापस ही माँगना चाहता। लेखक

ने उसके पिता को दौरे के वास्तविक कारणों से परिचित कराया जिससे वह भी बालक से प्रेम से व्यवहार करने लगा परिणाम स्वरूप बालक प्राकृतिक ढंग से रोने लगा और उसके दौरे भी जाते रहे। इस प्रकार देखने में अत्यन्त साधारण स्नेह सम्बन्ध परिणाम में मानसिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से कितने लाभप्रद हो सकते हैं इसका अनुमान लगाया जा सकता है। चिकित्सक चिकित्सार्थी से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर चिकित्सार्थी को मैत्री भावना स्थापित करने का आदर्शपाठ देता है। चिकित्सक यह आदर्शपाठ जितने ही प्रभावोत्पादक रीति से देगा उतना ही चिकित्सार्थी इस भावना का अभ्यास कर पायेगा। एक ऐसे बालक का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जो इस समय १४ वर्ष का है। इसका बड़ा भाई इस समय छब्बीस वर्ष का होगा। घर में स्वाभाविक रूप से बड़े भाई का अधिक महत्त्व था क्योंकि वह सब क्षेत्रों में आगे रहा। परिणाम स्वरूप यह छोटा भाई हठी हो गया तथा कोई भी आज्ञा प्राप्त करने पर आदेश पालन के स्थान पर ठीक उसके विपरीत ही व्यवहार करता रहा। जिससे उसका बड़ा भाई उसको कभी-कभी बहुत बुरी तरह पीटता भी था।

लेखक के सम्पर्क में आने पर बड़े भाई ने छोटे भाई को आदेश के स्थान पर निर्देश देना शुरू कर दिया। इस प्रकार उसे अपना कार्य करने में कुछ स्वतंत्रता प्राप्त हुई। बड़े भाई ने ऐसे कार्यों को टालना आरम्भ कि जिसमें छोटे भाई का विरोध हो। परिणाम यह हुआ कि वह अपने बड़े भाई को विश्वास पूर्वक देखने लगा तथा उसकी बातों का पालन आनन्दपूर्वक करने लगा। जब बड़े भाई को अपने घर से नौकरी निमित्त बाहर जाना पड़ा तो वह एक वर्ष में दो बार सख्त बीमार हुआ तथा पूरे वर्ष भर किसी न किसी बहाने अस्वस्थ रहा।

इस प्रकार उपरोक्त छोटा भाई जो पहले अपने बड़े भाई के विपरीत विद्रोह करने के हेतु हठी और उच्छृखंल व्यवहार करता था, बड़े भाई द्वारा आवश्यक स्नेह और विश्वास प्राप्त कर अपने भाई पर अटूट स्नेह करने लगा।

इस प्रकार प्रेम-प्रेम का विकास करता है, जो कि मानसिक शांति के लिए अनिवार्य है। परन्तु प्रेम का आधार त्याग है तथा प्रेम का प्रदर्शन उसकी प्रारम्भिक अवस्था में प्रतीकों से होता है। इस दृष्टि से मैत्री भावना का आदर्शपाठ चिकित्सार्थी के सत्कार से प्रारम्भ होता है। चिकित्सार्थी के प्रत्यक्ष सत्कार में उसके व्यक्तित्व का परोक्ष सत्कार निहित होता है।

इस प्रकार भारतीय मानसिक चिकित्सा के अन्तर्गत चिकित्सक को आर्थिक लाभ के स्थान पर आर्थिक त्याग करना पड़ता है। फ्रायड तथा पश्चिमी मानसिक चिकित्सकों ने मानसिक चिकित्सा को एक व्यापारिक रूप दिया है। परन्तु

पैसा देकर खरीदा हुआ स्नेह, चिकित्सार्थी का विकास करने के स्थान पर अधिकतर ह्रास ही करता है। पैसे के द्वारा प्रेरित मानसिक चिकित्सक चिकित्सार्थी के मन को अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ सिद्ध होगा। पांडित्य बुद्धि को प्रभावित कर लक्ष्मी को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है, मन को नहीं।

मन को आकृष्ट करने का एक ही मार्ग है, वह है प्रेम या मैत्री भाव। जो त्याग पर आधारित हैं। मनुष्य का मन वहीं झुकता है जहाँ त्याग का गंभीर रूप उसे अनुभूत हो। इस प्रकार अपनी बुद्धि, तन, मन, धन से चिकित्सार्थी की सेवा करने वाला चिकित्सक ही उसमें मैत्रीभावना का बीजारोपण कर सकता है जो कि मानसिक स्वास्थ्य का राजमार्ग है।

चिकित्सक चिकित्सार्थी में मैत्रीभाव का निराकाम विकास लाने के हेतु तथा उसकी मैत्रीभावना को अधिक विस्तृत क्षेत्र देने के दृष्टिकोण से उसको वातावरण से मैत्री स्थापित करने की ओर अग्रसर कराता है। किसी भी वातावरण का वास्तविक प्रतिनिधित्व उस वातावरण में विकसित होने वाले नन्हें बालक करते हैं। अतः चिकित्सार्थी को बालकों से मैत्रीभाव स्थापित करने का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

बालक स्वभाव से ही सरल होता है तथा वह मैत्री का उत्तर मैत्री से देता है। बालक से मैत्री के अतिरिक्त चिकित्सार्थी अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त चिकित्सार्थी अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार बालक को उसका क्रमिक विकास कराने में सहायक होकर बालक के जीवन को समृद्धशाली बनाते हुए उसके खोए हुए आत्मविश्वास की प्राप्ति कराता है।

सारांश में मानसिक चिकित्सा मैत्रीभाव से प्रारम्भ होती है तथा उसका सफल परिणाम मैत्रीभाव जनित आत्मविश्वास के विकास में निहित है। मानसिक चिकित्सा इस प्रकार एक योग है। योगः कर्मःसु कौशलम्।

श्री डी० बी० घारोकर

हिस्टीरिया

स्नेह-तत्व व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित कर व्यक्ति को प्रफुल्ल उत्साही तथा उन्नत बनाता है। जहाँ स्नेह की प्रचुरता है, वहाँ का वातावरण सच्ची सहानुभूति से ओतप्रोत है; वहाँ जीवन के प्रति कोई शिकायत नहीं रहती। इसके विपरीत जहाँ स्नेह तथा सहानुभूति का अभाव है, अथवा जहाँ उनका ऊपरी या झूठा प्रदर्शन है; वहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व का विच्छेद हो जाता है। व्यक्ति अनेकानेक उलझनों से अपने व्यक्तित्व की एकता को खो देता है। परिवार, समाज तथा जीवन के प्रति उसकी शिकायतें बढ़ती जाती हैं। उलझने तथा भावात्मक अनुभव तिरस्कृत और दमित हो, ग्रन्थियों का रूप ले लेते हैं। उन दमित ग्रन्थियों से अनेकानेक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की खोजपूर्ण मान्यता है कि अनेक शारीरिक रोगों की मूल मानसिक ग्रन्थियाँ हैं। दमित भावात्मक अनुभूतियों को चेतना के स्तर पर ला दुखमूलक मानसिक-ग्रन्थियों को मिटाया जा सकता है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के केन्द्रिय सिद्धान्तों में प्रमुख है।

हिस्टीरिया व्यक्तित्व की एकता के विच्छेद की एक अवस्था है। पहले हिस्टीरिया को दैवी प्रकोप अथवा भूतबाधा मानते थे। आज भी जहाँ मानसिक-प्रक्रियाओं का सही ज्ञान नहीं है, वहाँ इसे दैवी प्रकोप अथवा भूत-बाधा ही माना जाता है। आज भी अधिकांश शिक्षित क्षेत्र में यह धारणा व्याप्त है कि हिस्टीरिया अतृप्त कामवासना का परिणाम है। मनोवैज्ञानिक खोजों ने इसे भ्रामक सिद्ध किया है। जब स्नेह का भाव (लव इमोशन) किसी व्यक्ति अथवा वातावरण से सहज रूप से प्रभावित होता है, तो हिस्टीरिया हो ही नहीं सकती। जहाँ का वातावरण सहानुभूति और प्रेम-मय है, जहाँ व्यक्ति आदर, अधिकार तथा अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति पाता है एवं जहाँ वह सुरक्षा की अनुभूति करता है, वहाँ व्यक्तित्व का विच्छेद असम्भव है। मेरे एक मित्र की स्त्री को, जिन्हें एक सुन्दर, सन्तान भी है, लगभग नित्य हिस्टीरिया की लहरें आती हैं। ये दम्पति सम्पन्न, सुन्दर तथा भौतिक दृष्टि से स्वस्थ हैं। इनके बीच काम-अतृप्ति भी नहीं है। मेरे एक दूसरे मित्र की स्त्री को भी तीन सन्तानें हैं। उन्हें भी हिस्टीरिया के दौरे आते हैं। एक अन्य नव-दम्पति का भी यौवन-सम्बन्ध सन्तोष जनक है; फिर भी युवती हिस्टीरिया की लहरोंमें घंटों हाथ पैर पटकती है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के आचार्यों ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि काम-

अतृप्ति नहीं, वरन् प्रेम-भावना (लव-इमोशन), सुरक्षा एवं सहानुभूतिमय वातावरण का अभाव ही हिस्टीरिया का कारण है।

यह भी एक भ्रामक धारणा है कि हिस्टीरिया केवल स्त्रियों को ही होता है, यह सत्य है कि भावात्मक जटिलता के कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह अधिक व्याप्त पाया जाता है। बचपन से ही लड़के तथा लड़कियाँ किसी-न-किसी व्यक्ति से रागात्मकरूप से जुड़ जाते हैं। लड़कियों का भाव-योग विशेषकर पिता या भाई से तथा लड़कों का भाव-योग विशेषकर माता से होता है। लड़कियों को विवाहोपरान्त नए व्यक्ति और वातावरण से जुड़ना पड़ता है। इस अवस्था में यदि नये व्यक्ति तथा वातावरण से उनका प्रेम-भाव (लव इमोशन) का संचार न हो या रागात्मक एकता का अभाव हो, पुराना भाव दमित होकर हिस्टीरिया के लक्षणों में प्रकट होता है। यदि प्रेम-भाव नए जगह में आते ही स्थापित हो गया, तो पुराने का सहज ही विलयन हो जाता है। तब किसी भी प्रकार के हिस्टीरिया के लक्षण की आशंका नहीं रहती। नैतिकता और कल्पना का संघर्ष भी हिस्टीरिया का रूप लेता है।

अविवाहितों को भी हिस्टीरिया के फिटस आते हैं। किशोरावस्था में भाव-योग सहवर्गियों तथा दूसरों से भी होता है। कभी-कभी उत्सुकता अथवा भावावेश वश में काम-सम्बन्ध भी हो जाते हैं। उन अनुभवों को व्यक्ति समाज-भय और लज्जा से छिपाता है। पर जब उसकी नैतिकता, सभ्यता 'अहं' और चेतना बढ़ती हैं, तो उसे अपने पूर्व के काम-कुकृत्यों से घृणा, आत्म-ग्लानि तथा आत्म-भर्त्सना होती है। व्यक्ति उन अनैतिक अनुभवों को भूलने की कोशिश अनजाने ही करते-करते उन्हें चेतना से निकाल ही देता है। ये दमित भाव और काम-सम्बन्ध के अनुभव अचेतन मन में ग्रन्थि बन उपस्थित रहते हैं। जैसे-जैसे नैतिकता, चेतन बुद्धि वादिता, एवं 'अहं' बढ़ते हैं तैसे ही दमित ग्रन्थियों की शक्ति भी बढ़ती जाती है। व्यक्ति प्रबल आन्तरिक अथवा मानसिक क्लेश की अनुभूति करता है और तभी वह हिस्टीरियाँ की लहरों (फिट्स) के रूप में सहारा पाता है। लहर आ जाने से आन्तरिक अज्ञात वेदना कम जाती है। प्रेम-भाव (लव-इमोशन) का उठना, किसी से युक्त (अरेस्ट) हो जाना तथा फिर नैतिकता, समाज-मर्यादा एवं न घुलने लायक नए सम्बन्ध अथवा परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर उन्हें भूल जाना अथवा भूलने की चेष्टा करने में हिस्टीरिया के दौरे उठते है।

इस प्रकार प्रेम-भाव का कहीं बँध जाना, फिर आत्मग्लानि तथा नई रागात्मक एकताका अभाव इस मानसिक रोग के कारण हैं। रोगी अधिकतर

मानसिक-खिंचाव की अवस्था में रहता है। वह वातावरण, स्थान तथा नए व्यक्ति से, न चाहते हुए भी खिन्न रहता है। उसकी प्रवृत्ति हर चीज अथवा जबाब देही से भागने की होती है। प्रेमभाव के दमित अनुभव उसकी चेतना में असह्य स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। वह अपने आप अर्थात् अपने दमित रागत्मक तथा काम-अनुभवों से भयतीत रहता है, जिसका पता उसकी चेतना को नहीं होता है। अचेतन की इस अज्ञात-पीड़ा को वह विभिन्न शारीरिक लक्षणों में प्रकट करता है, जैसे शरीर के विभिन्न अंगों में दर्द, मूर्छा तथा अस्पष्ट दुःख की कराह। इन लक्षणों के द्वारा रोगी अपने निकट के व्यक्तियों तथा वातावरण की सहानुभूति पाने का प्रयत्न अनजाने ही करता है। शारीरिक लक्षणों के माध्यम से दमित भावनाओं की आन्तरिक वेदना कुछ समय के लिए कम हो जाती है।

लक्षणों के अनुसार हिस्टीरिया तीन प्रकार के होते हैं। पहला हिस्टीरिक, जिसमें लगातार हँसने रोने की क्रिया तथा क्रोध, दुःख और आत्मग्लानि होते हैं। हँसने-रोने को रोक पाना रोगी के लिए अत्यन्त कठिन होता है। एंग्जाइटी हिस्टीरिया जिसमें मृत्यु-भय व्याप्त अप्रकट भय, खुलेस्थान का भय, अन्धकार, ऊंचाई बीमारी तथा भयंकर घबराहट के भय होते हैं। तीसरा प्रकार रूपान्तरित हिस्टीरिया है। जब रोगी जीवन की आवश्यकताओं और वातावरण में सामंजस्य स्थापित नही कर पाता एवं जब यह स्थिति असाधारण बन जाती है तो उसके केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल की साधारण स्थिति में गिराव (नरवस ब्रेकडाउन) आ जाता है। फल स्वरूप लकवा तथा विभिन्न अंगों में पीड़ा की अनुभूति होती है। भले ही लक्षणों के आधार पर हिस्टीरिया का उपर्युक्त विभाजन मानसिक चिकित्सा—शास्त्रियों ने किया है, फिर भी असमर्थता, आश्रय और स्नेह की असाधारण भूख, पुष्ट जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में अयोग्यता तथा जीवन के लगभग प्रत्येक सत्य से भागने की प्रवृति हिस्टीरिया के सामान्य लक्षण हैं।

—सीताराम जायसवाल M. A.

श्री लालजीराम शुक्ल द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१ सरल मनोविज्ञान	६)	१२ अनुभव प्रकाश	३)
२ बाल मनोविकास	६)	१३ नीति-शास्त्र	५)
३ नवीन मनोविज्ञान और शिक्षा	३)	१४ मनोविज्ञान और जीवन	५)
४ बाल शिक्षण	३॥)	१५ आधुनिक मनोविज्ञान	४)
५ शिक्षा मनोविज्ञान भाग १	३।)	१६ बालमनोविज्ञान	२)
६ ,, ,, ,, २	४)	१७ नई मानसिक चिकित्सा	१॥)
७ समाज विकास	३॥)	१८ मनोविज्ञान चिन्तामणि	१॥)
८ मनोविज्ञान और आरोग्य	१॥)	१९ Educational Psychology	६।)
९ मनोवैज्ञानिक अनुभव	१॥)	२० Groundwork of Psychology	३॥)
१० मानसिक चिकित्सा	४)		
११ मानसिक आरोग्य	४)		

नवीन मनोविज्ञान

ले० प्रो० लालजीराम शुक्ल, भूमिका लेखक डा० भगवानदास जी
मूल्य ५) पृष्ठ संख्या ४५० प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, चौक, बनारस

'नवीन मनोविज्ञान' मनोविज्ञान की नई खोजों को सरल भाषा में हिन्दी में रखता है। आधुनिक काल में आश्चर्यजनक खोजें मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रही हैं। इनकी जानकारी जनता को कराना इसका उद्देश्य है।

नई मानसिक चिकित्सा

लेखक—प्रो० लालजीराम शुक्ल

इस पुस्तक में काशी मनोविज्ञानशाला में प्रयुक्त मानसिक रोगों की चिकित्सा-प्रणाली का विवरण पाया जाता है। यहाँ प्रयोग में आनेवाली चिकित्सा-प्रणाली प्रेम और सेवा की है। आनापानसति और मैत्र भावना के अभ्यास के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का किस प्रकार निराकरण होता है, यह मनोविज्ञानशाला के उपचार से लाभ प्राप्त किए व्यक्तियों के अनुभवों के आधार पर बताया गया है।

प्रकाशक—मनोविज्ञानशाला काशी, पृष्ठ सं २०० दाम १॥)

मिलने का पता—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, चौक बनारस